अग्निशिखा एवम् पुरोधा

दिसम्बर २०२४

मृत्यु का अर्थ

अग्निशिखा एवम् पुरोधा दिसम्बर २०२४ वर्ष २, अंक ५, पूर्णांक १७

विषय-सूची

मृत्यु का अर्थ

(श्रीमाँ के वचन)

चिरयुवा बने रहने का सन्देश/सम्पादकीय	३
मृत्यु का अर्थ	४
विरोध—प्रगति के लिए उत्तेजक तत्त्व	६
यदि मृत्यु का घेरा न होता	९
मृत्यु क्या है—भौतिक दृष्टि से	१३
मृत्यु का क्षण	१७
वृद्धावस्था और मृत्यु	२३
आत्महत्या	२६
क्या मृत्यु का क्षण पूर्वनियत होता है	२९
मृत्यु के बाद क्या होता है	३१
मृत्यु के भय को कैसे जीता जाये	३४

पुरोधा

दैनन्दिनी		३८
श्रीअरविन्द—एक विहंगम दृष्टि	नलिनी कान्त गुप्त	४०
गत-दिवस (कविता)	सियारामशरण गुप्त	४६
आवश्यकता है बस सरलता की	वन्दना	४७

पाठकों को हम यह याद दिला दें कि वैसे पुराने कलेवर की 'अग्निशिखा' का यह हमारा ५५वाँ वर्ष चल रहा है।

चिरयुवा बने रहने का सन्देश

एक ऐसा बुढ़ापा भी है जो वर्षों के संग्रह से भी कहीं अधिक ख़तरनाक और कहीं अधिक वास्तविक है : वह है विकसित होने और प्रगति करने की अक्षमता। जैसे ही तुम बढ़ना बन्द कर देते हो, जैसे ही तुम प्रगति करना बन्द कर देते हो, जैसे ही तुम ज़्यादा अच्छा होना बन्द कर देते हो, बढ़ना और विकसित होना बन्द कर देते हो, अपने-आपको बदलना बन्द कर देते हो, वैसे ही तुम सचमुच बूढ़े हो जाते हो, यानी, तुम विलय की ओर गिरने लगते हो।

ऐसे युवक हैं जो बूढ़े हैं और ऐसे बूढ़े हैं जो युवक हैं। अगर तुम्हारे अन्दर प्रगति और रूपान्तर के लिए ज्वाला उठती है, अगर तुम सावधानी के साथ आगे बढ़ने के लिए, सब कुछ पीछे छोड़ने के लिए तैयार हो, अगर तुम नयी प्रगति के लिए, नयी उन्नति, नये रूपान्तर के लिए हमेशा खुले रहते हो तो तुम चिरयुवा हो। लेकिन अगर तुम जो पा चुके हो उसी से सन्तुष्ट होकर बैठे रहो, अगर तुम्हें लगता है कि तुम अपने लक्ष्य तक पहुँच चुके हो और अब अपनी कमाई का फल खाने के सिवाय और कुछ करना-धरना नहीं है तो तुम्हारा आधे से अधिक शरीर क़ब्र में जा चुका है, यही जरा और सच्ची मृत्यु है। जो कुछ किया जा चुका है वह उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है जो करने के लिए बाक़ी है।

पीछे न देखो, सामने देखो, आगे, और आगे, हमेशा आगे।

सम्पादकीय : मृत्यु वह सतत प्रश्न है जो जीवन हमारे अन्दर के अमर तत्त्व को खोज निकालने के लिए हमारे सम्मुख रखता है। मृत्यु जीवन की अनुपस्थिति नहीं बल्कि अपने-आपको छिपाना है, ठीक उसी तरह जैसे अन्धकार प्रकाश का अभाव नहीं बल्कि प्रकाश का आत्म-दुराव है।

यह अंक मृत्यु को समझने के प्रयास को समर्पित है।

मृत्यु का अर्थ

इस पृथ्वी पर समस्त जीवन के साथ मृत्यु एक तथ्य के रूप में लगायी गयी है; किन्तु प्रकृति ने इसे जिस मूल अर्थ में रखा था, मनुष्य इसे उससे भिन्न अर्थ में समझते हैं। मानव और मानव-स्तर के नज़दीक वाले पशुओं की चेतना में मृत्यु की आवश्यकता का एक विशिष्ट रूप और एक विशिष्ट अर्थ हो गया है, लेकिन निम्नतर प्रकृति में जो अवचेतन ज्ञान है, जो इस अर्थ को आश्रय दिये हुए है वह है, फिर से नया होने की, परिवर्तन और रूपान्तर की आवश्यकता का अनुभव।

पृथ्वी पर जड़-तत्त्व की अवस्थाओं ने ही मृत्यु को अनिवार्य बनाया। जड़-तत्त्व के विकास का सारा अर्थ ही है, पहले की अचेतन अवस्था से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेतना में परिणत होना। और परिणत होने की इस प्रक्रिया में, जब यह सब यथार्थ में क्रियान्वित होने लगा तो आकारों का विनाश आवश्यक हो गया। कारण, संगठित व्यष्टिगत चेतना को स्थायी सहारा देने के लिए स्थिर रूप की आवश्यकता हुई। और वस्तुतः आकार की इस स्थिरता ने ही मृत्यु को अपरिहार्य बना दिया। क्योंकि जड़-तत्त्व को आकार धारण करने थे, क्योंकि आकार धारण किये बिना जीवन-शक्तियों अथवा चेतना की शक्तियों का व्यष्टीकरण तथा साकार-रूप असम्भव था, और इनके बिना पार्थिव भूमिका पर संगठित अस्तित्व के लिए प्रारम्भिक अवस्थाओं का अभाव होता। परन्तु आकार में बँधी साकार-रूप-रचना का यह स्वभाव है कि वह तुरन्त कठोर, अनम्य और पाषाणवत् बन जाने की ओर प्रवृत्त होती है। व्यक्तिगत आकार सब ओर से बाँध रखने वाले साँचे के रूप में स्थिर बना रहना चाहता है, वह शक्तियों की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता, विश्व-लीला की गतिशीलता में जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके साथ सामञ्जस्य रख कर वह स्वयं को परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृति की माँगों को वह लगातार पूरा नहीं कर सकता और वह उसके साथ-साथ नहीं चल सकता, वह प्रवाह के बाहर हो जाता है। आकार और उस पर दबाव डालने वाली शक्ति के बीच जो उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमानता और असामञ्जस्य है जब वह एक विशिष्ट सीमा तक पहुँच जाता है तो आकार को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है।

तब एक नये आकार की सृष्टि करनी पड़ती है, एक नवीन सामञ्जस्य और समानता को सम्भावित करना पड़ता है। मृत्यु का सच्चा अर्थ यही है और प्रकृति में इसका यही उपयोग है। परन्तु आकार यदि अधिक फुर्तीला और नमनशील बन सके और शरीर के अणुओं को बदलती हुई चेतना के अनुसार जाग्रत् किया जा सके तो ऐसे उग्र विनाश की आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायेगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ४२-४३

मनुष्य की मानसिक तथा प्राणिक सत्ताएँ तो विश्वव्यापी शक्तियों की गतियों का भरसक अनुसरण करती हैं और जगत् के आन्तरिक रूपान्तर तथा विकास की धारा उन्हें कुछ दूर तक आगे बढ़ा देती है; किन्तु शरीर, जो अत्यधिक जड़-प्राकृतिक नियमों से बँधा हुआ होता है, बहुत ही सुस्त चाल से चलता है। कुछ वर्षों के बाद, सत्तर या अस्सी, सौ या दो सौ वर्षों बाद—और यही शायद अधिक-से-अधिक अवधि है—यह शृंखला-भंग इतना अधिक बढ़ जाता है कि बाह्य सत्ता टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। माँग और उत्तर में अन्तर होने के कारण तथा शरीर की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमर्थता और प्रत्युत्तर देने की अक्षमता के कारण मृत्यु की घटना आ उपस्थित होती है।...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ९८

यदि हमारी समग्र सत्ता, विश्व की आन्तरिक प्रगति के साथ-साथ क़दम मिलाती हुई, अपने प्रगतिशील रूपान्तर के कार्य में एक संग आगे बढ़ सके तो रोग होगा ही नहीं, मृत्यु होगी ही नहीं। परन्तु यह बात सोलहों आने पूरी और समग्र सत्ता में होनी चाहिये, उच्चतम स्तरों से लेकर—जहाँ यह अधिक नमनशील होती है और आवश्यक अनुपात में रूपान्तरकारिणी शक्तियों के अधीन हो जाती है—अत्यन्त जड़-प्राकृतिक स्तर तक—जो स्वभाव से ही कठोर है, निश्चल है, किसी भी द्रुत रूपान्तरकारी परिवर्तन का विरोध करता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १०१-०२

विरोध—प्रगति के लिए उत्तेजक तत्त्व

***'विचार और सूत्र'* : श्रीअरविन्द**

८८—इस जगत् को 'मृत्यु' ने रचा था ताकि वह जी सके। क्या तू मृत्यु को मिटा देगा? तब जीवन भी समाप्त हो जायेगा। तू मृत्यु को मिटा नहीं सकता, किन्तु उसे महत्तर जीवन में रूपान्तरित कर सकता है।

८९—इस जगत् को 'क्रूरता' ने बनाया था ताकि वह प्रेम कर सके। क्या तू क्रूरता को विनष्ट कर देगा? तब तो प्रेम भी नष्ट हो जायेगा। तू क्रूरता को नष्ट नहीं कर सकता, परन्तु उसे उसके विरोधी तत्त्व, तीक्ष्ण प्रेम और आनन्दोल्लास में परिवर्तित कर सकता है।

९०—इस जगत् को 'अज्ञान' तथा 'भूल-भ्रान्ति' ने गढ़ा था ताकि वे जान सकें। क्या तू अज्ञान और भूल-भ्रान्ति को दूर कर देगा? तब तो ज्ञान भी विलीन हो जायेगा। तू अज्ञान और भूल-भ्रान्ति को दूर नहीं कर सकता, परन्तु उन्हें तर्कातीत विशुद्ध और प्रोज्ज्वल ज्ञान में परिणत कर सकता है।

९१—यदि केवल 'जीवन' ही होता और मृत्यु न होती तो फिर अमरत्व नाम की कोई चीज़ ही न होती; यदि केवल 'प्रेम' ही होता और क्रूरता न होती तो फिर आनन्द केवल एक प्रकार का मन्द और क्षणस्थायी उल्लास ही रह जाता; यदि केवल 'ज्ञान' ही होता और अज्ञान न होता तो हमारी अधिक-से-अधिक पहुँच एक सीमित तर्क-शक्ति और लौकिक विज्ञता तक ही होती, उससे परे हम जा ही न पाते।

९२—'मृत्यु' रूपान्तरित होकर 'जीवन' बन जाती है और वही है 'अमरत्व'; 'क्रूरता' परिवर्तित होकर 'प्रेम' बन जाती है और वही है असह्य आनन्दातिरेक; 'अज्ञान' बदल कर 'प्रकाश' बन जाता है जो ज्ञान और प्रज्ञा के भी परे जा पहुँचता है।

श्रीमाँ की व्याख्या :

यह ठीक वही विचार है, अर्थात्, विरोध और विपरीतता प्रगति के लिए एक प्रकार के उत्तेजक तत्त्व हैं। क्योंकि, यह कहना कि क्रूरता के

बिना प्रेम कुनकुना या शिथिल होगा... दिव्य प्रेम का तत्त्व अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त के परे है, उसका शिथिलता या क्रूरता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; केवल, श्रीअरविन्द का विचार ऐसा प्रतीत होगा, कि विरोधी चीज़ें जड़-तत्त्व को इस तरह गढ़ने के लिए कि उसकी अभिव्यक्ति अधिक तीव्र हो सके, सबसे अधिक तेज़ और प्रभावकारी साधन हैं।

एक अनुभव के रूप में यह बात बिलकुल ठीक है, इस अर्थ में ठीक है कि सबसे पहले, जब मनुष्य शाश्वत प्रेम, परात्पर प्रेम के संस्पर्श में आता है तो तुरत उसे—किन शब्दों में कहा जाये?—एक बोध, एक अनुभव होता है—यह एक प्रकार की समझ नहीं है बल्कि बहुत ठोस चीज़ है कि भौतिक चेतना चाहे जितनी भी आलोकित क्यों न हो, चाहे जितने अच्छे ढंग से क्यों न ढली हो, चाहे जितने अच्छे रूप में क्यों न तैयार की गयी हो, 'उस' प्रेम को अभिव्यक्त करने में *असमर्थ* है! पहली धारणा इस प्रकार की अक्षमता की होती है। फिर आता है एक अनुभव, ठीक ऐसी चीज़ आती है जो उसका एक रूप प्रकट करती है—इसे हम ठीक "क्रूरता" तो नहीं कह सकते, क्योंकि यह वैसी क्रूरता नहीं है जैसी हम जानते हैं—बल्कि यों कहें कि सारी परिस्थितियों के बीच एक स्पन्दन होता है जिसमें प्रेम को, जैसा कि वह यहाँ अभिव्यक्त है, अस्वीकार करने का एक प्रकार का तीव्र भाव होता है। हाँ, वह यही है: भौतिक जगत् की कोई चीज़ जो प्रेम की, जैसा कि अभी वह विद्यमान है, अभिव्यक्ति को अस्वीकार करती है। मैं यहाँ साधारण जगत् की बात नहीं कर रही, बल्कि वर्तमान चेतना की उच्चतम अवस्था की बात कर रही हूँ। यह एक अनुभव है, मैं एक ऐसी चीज़ की बात कर रही हूँ जो हो चुकी है। अतः, चेतना का वह अंश जो इस विरोध से स्पृष्ट हुआ है, प्रेम के मूल की ओर एक सीधी पुकार भेजता है, उस पुकार में *एक ऐसी तीव्रता होती है जो अस्वीकृति के इस अनुभव के बिना कदापि उत्पन्न न हुई होती।* सीमाएँ भंग हो जाती हैं और एक बाढ़ नीचे आ जाती है जो पहले अभिव्यक्त न हो पाती और एक ऐसी चीज़ प्रकट हो जाती है जो पहले प्रकट नहीं हुई थी।

इस दृष्टि से देखें तो जिन्हें हम जीवन और मृत्यु कहते हैं उनके विषय में स्पष्ट ही एक अनुरूप अनुभव विद्यमान है। यह अनुभव है इस प्रकार मृत्यु की उपस्थिति का "ऊपर छाये रहना" या निरन्तर बने रहना

और मृत्यु की सम्भावना का होना, जिसका वर्णन *'सावित्री'* में इस प्रकार किया गया है : बचपन के पालने से लेकर क़ब्र तक तुम्हारी पूरी यात्रा में निरन्तर तुम्हारे साथ, मृत्यु की यह विभीषिका या उपस्थिति अनवरत रूप से साथी बनी रहती है। और साथ-ही-साथ कोषों में विद्यमान है 'नित्यता की शक्ति' के लिए एक तीव्र पुकार जो इस सतत विभीषिका के कारण है, अन्यथा कभी न होती। इस तरह हम समझ पाते हैं, बिलकुल ठोस रूप में यह अनुभव करना आरम्भ करते हैं कि ये सब चीज़ें 'अभिव्यक्ति' को तीव्र बनाने के तरीक़े हैं, उसकी प्रगति कराने के, उसे अधिकाधिक पूर्ण बनाने के मार्ग हैं। और यदि ये मार्ग भद्दे हैं तो इसका कारण यह है कि स्वयं यह 'अभिव्यक्ति' बहुत भद्दी, अपरिपक्व है। और जैसे-जैसे यह अपने को पूर्ण बनायेगी, जैसे-जैसे यह उस चीज़ को अभिव्यक्त करने के योग्य बन जायेगी जो **शाश्वत रूप से प्रगतिशील** है, वैसे-वैसे भद्दे साधन पीछे छूटते जायेंगे और उनके स्थान पर सूक्ष्मतर साधन आते जायेंगे और ऐसे क्रूर विरोधों की आवश्यकता के बिना संसार आगे बढ़ता जायेगा। यह केवल इसलिए ऐसा है कि संसार अभी अपने शैशव काल में है और मानव चेतना भी एकदम शैशव काल की अवस्था में है।

यह बहुत ही ठोस अनुभव है।

अतएव, जब प्रगति करने के लिए पृथ्वी को मरने की आवश्यकता नहीं होगी तब मृत्यु भी न रहेगी। जब प्रगति करने के लिए पृथ्वी को दुःख-कष्ट उठाने की आवश्यकता न रहेगी तब दुःख-कष्ट भी न रहेगा। और जब प्रेम करने के लिए पृथ्वी को घृणा करने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी तो फिर घृणा भी न रहेगी।

सृष्टि को उसके तमस् से बाहर निकाल लाने और उसकी उन्नति के शिखर तक आगे बढ़ा ले जाने का यह बहुत ही तेज़ और बहुत ही फलदायी साधन है। *(लम्बा मौन)*

... सम्भवतः यह शीघ्रता से होगा...। परन्तु प्रश्न घट कर यह रूप ले लेता है—उस सद्वस्तु को आकर्षित करने की एक *पर्याप्त*, तीव्र और फलदायी अभीप्सा जो रूपान्तर कर सकती है, जटिलता को 'सरलता' में, क्रूरता को 'प्रेम' में रूपान्तरित कर सकती है, इसी तरह और भी...।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १९३-१९६, १९८

यदि मृत्यु का घेरा न होता

"मृत्यु वह प्रश्न है जिसे प्रकृति सदा ही 'जीवन' के सामने उसे यह स्मरण दिलाने के लिए रखती है कि उसने अभी तक अपने को नहीं ढूँढ़ा है। यदि मृत्यु का घेरा न होता तो प्राणी सदा के लिए एक अपूर्ण जीवन के ढाँचे के साथ बँधा रहता। मृत्यु द्वारा पीछा किये जाने पर वह पूर्ण जीवन के विचार के प्रति जाग्रत् होता है तथा उसके साधन और उसकी सम्भावना की खोज करता है।"

(*'विचार और झांकियाँ'* —श्रीअरविन्द)

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे प्रत्येक मनुष्य, जिसकी चेतना ज़रा-सी भी जाग्रत् है, जीवन में कम-से-कम एक बार तो अपने-आपसे करता ही है। सत्ता की गहराइयों में जीवन को जारी रखने, उसे लम्बा करने और उसका विकास करने की एक ऐसी आवश्यकता विद्यमान है कि जिस क्षण मृत्यु के साथ व्यक्ति का पहला सम्पर्क होता है, चाहे वह सम्पर्क बिलकुल अकस्मात् हुआ हो, पर जिसका होना अनिवार्य है, तो उससे सत्ता में एक प्रकार का हटाव होता है।

कुछ में, जो संवेदनशील होते हैं, यह संत्रास पैदा करता है, दूसरों में रोष। व्यक्ति की अपने-आपसे यह पूछने की प्रवृत्ति होती है: "यह भयावह प्रहसन क्या है जिसमें हम बिना चाहे और बिना समझे हिस्सा लेते हैं? यदि मरना ही है तो हम पैदा ही क्यों होते हैं? प्रगति, उन्नति और अपनी शक्तियों के विकास के लिए किये गये प्रयत्नों से लाभ ही क्या यदि इनका अन्त ह्रास में, अधोगति और विघटन में होना है?..." कुछ विद्रोह करते हैं, दूसरे, निर्बल, निराश हो जाते हैं। यह प्रश्न सदा ही किया जाता रहा है: "यदि इस सबके पीछे एक सचेतन 'संकल्प' विद्यमान है तो यह 'संकल्प' दानवी प्रतीत होता है।"

परन्तु श्रीअरविन्द यहाँ हमें बताते हैं कि मृत्यु जड़-तत्त्व की चेतना में पूर्णता की प्यास और प्रगति की आवश्यकता को जगाने के लिए एक अनिवार्य साधन है, और यह कि इस महाविपत्ति के बिना सभी प्राणी उसी अवस्था में, जिसमें वे थे, सन्तोष किये पड़े रहते—शायद...। यह

निश्चित नहीं है।

परन्तु अब हम बाध्य हैं चीज़ों को उस रूप में लेने के लिए जैसी कि वे हैं और, अपने-आपसे कहते हैं कि इससे बाहर निकलने के साधनों का जैसे भी हो पता लगाना चाहिये।

वास्तविक बात तो यह है कि सभी चीज़ें सतत प्रगतिशील विकास की एक अवस्था में हैं, अर्थात्, सारी सृष्टि, सारा विश्व एक पूर्णता की ओर आगे बढ़ रहा है और ज्यों-ज्यों व्यक्ति इसकी ओर आगे बढ़ता है यह पूर्णता पीछे हटती प्रतीत होती है कारण, जो किसी समय पूर्णता प्रतीत होती थी वह कुछ समय बाद वैसी नहीं रहती। हमारी चेतना में जो सूक्ष्मतम स्थितियाँ हैं वे तो इस पूर्णता का इसके उत्पन्न होने के साथ ही तुरन्त अनुसरण कर लेती हैं और सीढ़ी पर ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊँचे चढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारी प्रगति की लय विश्व-प्रगति की लय के साथ अधिक मेल खाने लगती है और भागवत विकास की लय के अधिक नज़दीक पहुँच जाती है। परन्तु स्थूल जड़-जगत् स्वभाव से ही कठोर है, वहाँ परिवर्तन धीमा, अत्यन्त धीमा होता है, मानव-चेतना की समय की अवधारणा के अनुसार तो यह परिवर्तन प्रायः अलक्ष्य-सा ही होता है।... और इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य गतियों में एक सतत असन्तुलन रहने लगता है और यह असमतोलता ही, आन्तरिक प्रगति की गति का अनुसरण करने की बाह्य ढाँचे की यह अक्षमता ही, ढाँचे के विघटन और उसके परिवर्तन की आवश्यकता उत्पन्न करती है। परन्तु यदि, इस जड़-तत्त्व को, व्यक्ति चेतना से इतनी पर्याप्त मात्रा में भर दे कि इसकी भी वही लय बनी रहे, यदि जड़-तत्त्व आन्तरिक प्रगति का अनुसरण करने के लिए पर्याप्त रूप से नमनीय बन सके तो सन्तुलन भंग नहीं होगा और फिर मृत्यु भी आवश्यक नहीं रहेगी।

इस प्रकार, श्रीअरविन्द हमें जैसा बताते हैं उसके अनुसार, प्रकृति ने इस अधिक उग्र साधन को इसलिए चुना कि भौतिक चेतना में आवश्यक अभीप्सा और नमनीयता जगायी जा सके।

यह स्पष्ट ही है कि जड़-तत्त्व की सबसे प्रमुख विशेषता है तमस्, और यह भी कि, यदि यह उग्र प्रयोग न होता तो शायद व्यक्ति-चेतना इतनी तामसिक होती कि वह किसी परिवर्तन की अपेक्षा अपूर्णता में ही निरन्तर बने रहना स्वीकार कर लेती...। यह सम्भव है। कुछ भी हो, चीज़ें अब

ऐसी ही हैं, और हमारे लिए, जो कुछ अधिक जानते हैं, बस, एक ही चीज़ करने को शेष रह जाती है और वह है, जहाँ तक हमें साधन उपलब्ध हैं, 'शक्ति' व 'चेतना' के, इस नयी 'शक्ति' के आवाहन द्वारा इस सबको बदल देना, इस 'शक्ति' के पास ऐसी सामर्थ्य है कि यह जड़-पदार्थ में उस प्रकार के स्पन्दन का सञ्चार कर सकती है जो इसका रूपान्तर कर दे, इसे नमनीय, कोमल और प्रगतिशील बना दे।

स्पष्ट ही इसमें सबसे बड़ी बाधा है वस्तुओं के वर्तमान स्वरूप के प्रति आसक्ति। और प्रकृति भी, समष्टि-रूप में, यह देखती है कि जिनके पास अधिक गहन ज्ञान है वे अधिक तेज़ी से बढ़ जाना चाहते हैं: उसे अपने घुमावदार रास्ते पसन्द हैं, उसे पसन्द है कि एक-के-बाद-एक प्रयत्न चलते रहें, विफलताएँ आयें, और फिर नया आरम्भ हो और नयी खोजें हों, उसे रास्ते का मनमौजीपन और अनुभवों में अप्रत्याशितता पसन्द है। हम लगभग कह सकते हैं कि इस सबमें जितना अधिक समय लगता है उतना ही उसका मनोरञ्जन होता है।

परन्तु बढ़िया-से-बढ़िया खेल से भी हम तंग आ जाते हैं। समय आता है जब हम उसके बदले जाने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। हम एक ऐसे खेल का स्वप्न ले सकते हैं जिसमें आगे बढ़ने के लिए कुछ भी नष्ट करना ज़रूरी न हो, जहाँ प्रगति करने का उत्साह इतना हो कि वह नये साधनों और नयी अभिव्यक्तियों को ढूँढ़ निकाले, जहाँ उमंग इतनी तीव्र हो कि वह तमस्, शिथिलता, दुर्बोधता, थकान और उदासीनता पर विजय पा ले।

भला यह शरीर, जैसे ही हम कुछ उन्नति कर लेते हैं, बैठ जाने की आवश्यकता क्यों अनुभव करता है? यह थक जाता है। कहता है: **"ओह! ठहरो, मुझे थोड़ा विश्राम कर लेने दो।" यही चीज़ है जो इसे मृत्यु की ओर ले जाती है।** यदि यह अपने अन्दर सदा ही और अधिक अच्छा करने, और अधिक पवित्र होने, और अधिक सुन्दर होने, और अधिक प्रकाशपूर्ण होने और चिरयुवा बने रहने का आवेश अनुभव कर सकता तो व्यक्ति 'प्रकृति' के इस विकराल परिहास से बच सकता।

उसके लिए इसका कोई महत्त्व नहीं। वह सारी चीज़ को एक साथ देखती है, समग्रता को देखती है। वह देखती है कि कुछ भी खोया नहीं

गया है, यह तो महज़ मात्राओं का, अनगिनत छोटे-छोटे तत्त्वों का, जिनका कुछ महत्त्व नहीं, पुनर्मिश्रण-भर है। उन्हें वह बर्तन में फिर से डाल देती और अच्छी तरह मिलाती है और उनसे कुछ नयी चीज़ तैयार हो जाती है। पर यह खेल हर किसी के लिए मनोरञ्जक नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति अपनी चेतना में उतना ही विशाल बन सके जितनी कि वह है और उससे भी अधिक शक्तिशाली बन जाये तो उसी चीज़ को वह और अधिक अच्छी तरह भला क्यों नहीं कर सकता?

यही समस्या है जो इस समय हमारे सामने है। यह जो नयी 'शक्ति' उतरी है, जो अपने-आपको मूर्तिमन्त करने में लगी है और कार्य-तत्पर है उसकी इस बढ़ी हुई सहायता से क्यों न हम खेल को अपने हाथ में लेकर इसे अधिक सुन्दर, अधिक सामञ्जस्यपूर्ण और अधिक सच्चा बना डालें?

यदि कुछ मस्तिष्क इतने समर्थ हों कि वे इस 'शक्ति' को ग्रहण कर सकें और इसकी सम्भवनीय क्रिया को आकार प्रदान कर सकें तो यह काफ़ी है। और कुछ बहुत ही प्रतापी व प्रबुद्ध सत्ताओं का होना भी ज़रूरी है जो 'प्रकृति' को यह विश्वास दिला सकें कि उसकी पद्धतियों से भिन्न दूसरी पद्धतियाँ भी हैं...। यह एक पागलपन-सा प्रतीत होता है। पर सभी नयी चीज़ें, सदा पागलपन ही प्रतीत होती रही हैं जब तक कि वे वास्तविकताएँ नहीं बन गयीं।

अब वह घड़ी आ गयी है कि यह पागलपन एक वास्तविकता का रूप ले ले। और चूँकि हम सब किन्हीं विशेष कारणों से—शायद हममें से बहुतों के लिए अज्ञात, फिर भी बहुत ही सचेतन कारणों से—यहाँ हैं, हम अपने अन्दर यह निश्चय ले सकते हैं कि हमें इस पागलपन को संसिद्ध करना है, कम-से-कम इसे जीने का परिश्रम भी सार्थक है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३८-४१

यह है 'मृत्यु' की आवश्यकता तथा उसकी न्यायसंगता,
यह 'जीवन' का खण्डन नहीं,
बल्कि 'जीवन' की एक प्रक्रिया है...।

श्रीअरविन्द

मृत्यु क्या है—भौतिक दृष्टि से

भौतिक दृष्टि से मृत्यु क्या है?

मृत्यु उन कोषाणुओं के विकेन्द्रीकरण और छितराव की घटना है जिससे भौतिक शरीर बनता है।

चेतना अपने स्वभाव से ही अमर है, और भौतिक जगत् में अभिव्यक्त होने के लिए कम या अधिक टिकाऊ रूप धारण करती है।

भौतिक पदार्थ रूपान्तर के मार्ग पर है ताकि वह इस चेतना के लिए बहुरूप अभिव्यक्ति की अधिकाधिक पूर्ण और टिकाऊ विधि बन सके।

क्या विकेन्द्रीकरण एक ही बार में हो जाता है या थोड़ा-थोड़ा करके होता है?

सब कुछ एक ही साथ नहीं छितर जाता; बहुत समय लगता है।

शारीरिक सत्ता की केन्द्रीय संकल्प-शक्ति सभी कोषाणुओं को एक साथ बनाये रखने की शक्ति को त्याग देती है। यह पहला तथ्य है। किसी-न-किसी कारण से वह सत्ता विघटन को स्वीकार कर लेती है। सबसे शक्तिशाली कारणों में से एक है ऐसे असामञ्जस्य का भाव जो सुधार से परे है; दूसरा है समन्वय और सामञ्जस्य के प्रयास को बनाये रखने से विरक्ति। वास्तव में, अनगिनत कारण हैं, लेकिन जब तक कि कोई प्रबल दुर्घटना न हो तब तक विशेष रूप से सम्बद्धता को बनाये रखने की यह इच्छा, किसी-न-किसी कारण से या अकारण ही, ग़ायब हो जाती है। यही अनिवार्य रूप से मृत्यु के पहले होता है।

क्या "कोषाणुओं के छितराव" के इस वाक्यांश में "छितराव" शब्द का कोई विशेष अर्थ है? अगर है तो क्या है?

मैंने बिलकुल निश्चयात्मक अर्थ में 'कोषाणुओं का छितराव' शब्द का प्रयोग किया है।

जब शरीर को रचने वाली एकाग्रता का अन्त आ जाता है और शरीर विघटित होता है तो जो कोषाणु विशेष रूप से विकसित किये गये थे और जो अपने अन्दर स्थित 'उपस्थिति' के प्रति सचेतन हो गये थे, वे बिखर जाते हैं और किसी और संघटन में पैठ जाते हैं जहाँ, संसर्ग के द्वारा, वे उस 'उपस्थिति' के प्रति सचेतनता को जगाते हैं जो हर एक में है। और इस तरह संघटन, विकास और छितराव के इस तथ्य से सारा जड़-पदार्थ विकसित होता है और संसर्ग के द्वारा सीखता है, संसर्ग के द्वारा विकसित होता है, संसर्ग के द्वारा अनुभव प्राप्त करता है।

स्वाभाविक है कि कोषाणु शरीर के साथ विलीन हो जाते हैं। कोषाणुओं की चेतना अन्य संयोजनों में प्रविष्ट हो जाती है।

समन्वय और सामञ्जस्य को बनाये रखने के प्रयास से भौतिक सत्ता को विरक्ति कहाँ से आती है?

साधारणतः, यह विरक्ति तब पैदा होती है जब सत्ता का एक अंश (कोई महत्त्वपूर्ण अंश, प्राण या मन) प्रगति करने से इन्कार कर दे। तब यह इन्कार, भौतिक रूप में, समय के साथ आने वाले विघटन के विरुद्ध प्रयास करने की अस्वीकृति में अनूदित हो जाता है।

भौतिक सत्ता की केन्द्रीय संकल्प-शक्ति में और कोषाणुओं में सम्पर्क कहाँ होता है? और किस तरह होता है?

कोषाणुओं में एक आन्तरिक रचना या संगठन होता है जो विश्व के संगठन से मेल खाता है। इसलिए समरूप आन्तरिक और बाह्य अवस्थाओं में सम्पर्क होता है...। वह अवस्था "बाह्य" नहीं होती, लेकिन व्यक्ति के लिए बाह्य होती है। यानी, कोषाणु को, अपनी आन्तरिक संरचना में, सम्पूर्ण संरचना में स्थित अपने साथ मेल खाने वाली अवस्था से स्पन्दन मिलता है। हर एक कोषाणु अलग-अलग दीप्तियों से रचा हुआ है, उसका अपना पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय केन्द्र होता है, और ज्योति का सम्पर्क ज्योति से होता है। यानी, संकल्प-शक्ति, ज्योतिर्मय केन्द्र, मेल खाने वाली ज्योतियों को छूकर, सत्ता के आन्तरिक सम्पर्क द्वारा कोषाणुओं पर काम करता है। हर एक कोषाणु ब्रह्माण्ड के साथ मेल खाने वाला छोटा-सा जगत् है।

कोषाणु के जड़ पदार्थ पर संकल्प-शक्ति और केन्द्रीय प्रकाश, जो भौतिक नहीं हैं, किस तरह काम करते हैं?

यह ठीक वैसा ही है जैसे यह पूछना : "संकल्प-शक्ति जड़-पदार्थ पर कैसे काम करती है?" सारा जीवन ऐसा ही तो है।... उनका पूरा अस्तित्व ही इस संकल्प-शक्ति की क्रिया का परिणाम है, कि संकल्प-शक्ति के बिना जड़-पदार्थ निष्क्रिय और अचल होगा और ठीक इसी कारण जड़-पदार्थ पर संकल्प-शक्ति के स्पन्दन की क्रिया ही जीवन को सम्भव बनाती है। वरना जीवन होता ही नहीं।

क्या प्रगति के लिए संकल्प समय के साथ आने वाले विघटन को रोकने के लिए काफी है? शारीरिक सत्ता इस विघटन को किस प्रकार रोक सकती है?

ठीक यही तो है शरीर का रूपान्तर : शारीरिक कोषाणु केवल सचेतन ही नहीं, बल्कि सच्चे "चित्-तपस्" के प्रति ग्रहणशील बन जाते हैं; यानी, वे इस उच्चतर 'चेतना' के काम को स्वीकार कर लेते हैं। यही है रूपान्तर का काम।

हम शारीरिक सत्ता के प्रति किस तरह सचेतन हो सकते हैं?

मानवजाति, लगभग पूरी-की-पूरी, केवल शारीरिक सत्ता के बारे में ही सचेतन है। शिक्षा के साथ-साथ, अपने प्राण और मन के बारे में सचेतन व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। जहाँ तक चैत्य पुरुष के प्रति सचेतन होने वाले मनुष्यों का सवाल है, उनकी संख्या अपेक्षया बहुत कम है।

अगर तुम कहना चाहो : "शारीरिक सत्ता की चेतना को किस तरह जगाया जाये?" तो शारीरिक शिक्षा का लक्ष्य ठीक यही तो है। शारीरिक शिक्षा ही कोषाणुओं को सचेतन होना सिखाती है। लेकिन दिमाग़ को विकसित करने के लिए है अध्ययन, निरीक्षण, बुद्धिमत्तापूर्ण शिक्षा, विशेष रूप से निरीक्षण और तर्क-शक्ति। और स्वाभाविक है कि चरित्र के दृष्टिकोण से समग्र चेतना की शिक्षा के लिए होना चाहिये योग।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३६९-७४

घड़ी प्रति घड़ी आकर्षित कर लुभाती वह शाश्वतता है,
एक लघु आकाश में समायी वह नित्यता है :
मृत्यु देवता की बाँहों में जकड़ी अमरता है।

'सावित्री', पृ. ५१६ **श्रीअरविन्द**

मृत्यु का क्षण

मृत्यु के प्रति उचित मनोभाव

चाहे जो भी परिस्थिति हो, यदि तुम्हारा मन उसे अनुकूल वस्तु के रूप में देखने का अभ्यासी हो तो वह तुम्हारे लिए ज़रा भी कष्टदायी नहीं रहेगी। यह बिलकुल सुपरिचित बात है; जब तक मन किसी चीज़ को स्वीकार करने से इन्कार करता है, उससे संघर्ष करता है, उसे बाधा पहुँचाने की कोशिश करता है, तब तक मनुष्य के अन्दर यन्त्रणाएँ, कठिनाइयाँ, तूफ़ान, आन्तरिक संघर्ष तथा समस्त दुःख-क्लेश रहते ही हैं। परन्तु जिस क्षण मन यह कहता है, "बहुत अच्छा, यही चीज़ है जिसे आना था, बस, इसी तरह इसे घटित होना था," तो जो कुछ होता है उससे तुम सन्तुष्ट रहते हो। ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपने शरीर पर अपने मन का ऐसा संयम प्राप्त कर लिया है कि वे कुछ भी अनुभव नहीं करते; उस दिन मैंने कुछ गुह्यवादियों के विषय में यही बात कही थी: यदि वे यह समझते हैं कि जो यातना उन्हें पहुँचायी जा रही है वह उन्हें एक क्षण में अपनी चेतना के वर्तमान स्तरों को पार करने में और 'सिद्धि' प्राप्त करने, अपने सामने रखे हुए लक्ष्य को प्राप्त करने, भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करने के लिए उन्नति के एक साधन के रूप में सहायता करेगी तो फिर वे यातना का अनुभव बिलकुल नहीं करते। ऐसा लगता है मानों उनके शरीर पर मानसिक विचार की कलई चढ़ गयी हो। ऐसी बात बहुत बार घटित हो चुकी है; यह उन लोगों का बहुत सामान्य अनुभव रहा है जिनमें वास्तव में तीव्र धर्मानुराग रहा है। और आख़िरकार, यदि मनुष्य को किसी-न-किसी कारणवश अपना शरीर छोड़ना और नया शरीर लेना ही हो तो क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि मृत्यु को कोई बीभत्स पराजय बनाने की जगह भव्य, हर्षयुक्त और उत्साहपूर्ण वस्तु बना दिया जाये? जो लोग जीवन से चिपके रहते हैं, जो एक या दो क्षण भी अपना अन्त रोक रखने के लिए प्रत्येक सम्भवनीय उपाय से चेष्टा करते हैं, जो तुम्हारे सामने भीषण वेदना का उदाहरण रखते हैं, वे यह प्रदर्शित करते हैं कि वे अपनी अन्तरात्मा के विषय में सचेतन नहीं हैं...।

मृत्यु बस एक साधन है

फिर भी, यह शायद एक साधन है, है न? मनुष्य इस घटना को एक साधन में बदल सकता है; यदि मनुष्य सचेतन हो तो वह, प्रत्येक चीज़ की तरह, मृत्यु को भी एक सुन्दर वस्तु, बहुत सुन्दर वस्तु बना सकता है। और ध्यान दो, जो लोग इससे नहीं डरते, जो बेचैन नहीं होते, जो बिना किसी मलिनता के मर सकते हैं, वे ऐसे लोग होते हैं जो कभी मृत्यु की बात नहीं सोचते, अपने सम्मुख उपस्थित इस "संत्रास" से हर समय घिरे नहीं रहते जिससे कि उन्हें अवश्य बचना है और जिसे वे अपने से जितनी दूर सम्भव हो उतनी दूर धकेलने की कोशिश भी करते हैं। ऐसे लोग जब अवसर उपस्थित होता है, अपना मस्तक उठा सकते और हँसते हुए कह सकते हैं कि "मैं यहाँ हूँ।"

बस, ये ही लोग हैं जिनके अन्दर अपने जीवन का यथासम्भव सर्वोत्तम उपयोग करने का संकल्प होता है, ये ही लोग हैं जो कहते हैं, "जब तक आवश्यक है तब तक, उसके अन्तिम क्षण तक, मैं यहाँ बना रहूँगा और मैं अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए एक क्षण भी नहीं खोऊँगा;" ये ही लोग, जब आवश्यकता पड़ती है, सर्वोत्तम दृश्य उपस्थित करते हैं। क्यों?—यह बहुत सरल है, क्योंकि वे अपने आदर्श में निवास करते हैं, अपने आदर्श के सत्य में रहते हैं; क्योंकि उनके लिए यही सच्ची वस्तु होती है, उनके जीने का एकमात्र प्रयोजन, और सभी वस्तुओं में वे इस आदर्श को, सत्ता के इस प्रयोजन को देख सकते हैं, और वे कभी भी स्थूल जीवन की गन्दगी में नीचे नहीं उतरते।

अतएव, निष्कर्ष यह रहा :

कभी मृत्यु की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

कभी मरने का संकल्प नहीं करना चाहिये।

कभी मरने से भयभीत नहीं होना चाहिये।

और सभी परिस्थितियों में अपने-आपको अतिक्रम करने का संकल्प बनाये रखना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४२४-२५

परम रहस्य है, वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं। श्रीमाँ

मृत्यु का डर

जब व्यक्ति को मरना होता है तब वह मरता है, जब नहीं मरना होता तो नहीं मरता। तुम भले प्राणघातक संकट में हो, अगर तुम्हारे मरने का समय नहीं आया है तो तुम नहीं मरोगे, दूसरी ओर, तुम भले सब संकटों से परे होओ, पाँव में ज़रा-सी खेंख भी तुम्हें मारने के लिए काफ़ी हो सकती है, ऐसे लोग हैं जो पैर पर पिन की खरोंच लगने के कारण मर गये, क्योंकि समय आ गया था। इसलिए, भय का कोई अर्थ नहीं है। तुम जो कर सकते हो वह यह है—अपने-आपको एक ऐसी चेतना में ऊपर उठा लो जहाँ तुम कह सको: "बात ऐसी है, हम इस तथ्य को स्वीकारते हैं, क्योंकि ऐसा लगता है कि इसे अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। लेकिन मुझे चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं, क्योंकि वह तभी आयेगी जब उसे आना चाहिये। इसलिए मुझे डरने की ज़रूरत नहीं: जब उसे नहीं आना है तब वह मेरे पास नहीं आयेगी, लेकिन जब उसे मेरे पास आना होगा तब आयेगी ही। और चूँकि वह अनिवार्य रूप से मेरे पास आयेगी, ज़्यादा अच्छा यही है कि मैं उससे न डरूँ; इसके विपरीत, जो चीज़ बिलकुल स्वाभाविक है उसे स्वीकार करना चाहिये।" यह सुपरिचित उपचार है, यानी, इसका बहुत उपयोग होता है।

एक और उपचार है, कुछ ज़्यादा कठिन, पर मेरा ख़याल है, ज़्यादा अच्छा। इसमें अपने-आपसे कहना होता है: "यह शरीर मैं नहीं हूँ।" और अपने अन्दर उस भाग को जानने की कोशिश करनी होती है जो सचमुच हमारा "अपनापन" है जब तक कि चैत्य पुरुष न मिल जाये। और जब चैत्य पुरुष मिल जाता है तो—तुरन्त, समझे—अमरता का भान होता है। और व्यक्ति यह जान लेता है कि जो बाहर जाता या अन्दर आता है वह केवल सुविधा की बात है। "मैं उन जूतों के लिए रोने नहीं बैठूँगा जो छेदों से भरे पड़े हैं! जब मेरे जूतों की जोड़ी घिस जाती है तो मैं उन्हें फेंक देता हूँ और रोना-धोना नहीं करता।" हाँ, तो चैत्य पुरुष ने यह शरीर इसलिए धारण किया है क्योंकि उसे अपने काम के लिए इसकी ज़रूरत थी, लेकिन जब शरीर छोड़ने का समय आता है, यानी, जब उसे छोड़ना ज़रूरी होता है, वह किसी-न-किसी कारण से उपयोगी नहीं रहता तो व्यक्ति शरीर छोड़ देता है। उसे कोई डर नहीं होता। यह एक स्वाभाविक क्रिया होती है—और

ज़रा भी पछतावे के बिना की जाती है। बस ख़तम।

और जिस क्षण तुम अपने चैत्य पुरुष में होते हो, उसी क्षण तुम्हारे अन्दर यह भाव बिना प्रयास के, सहज रूप में आ जाता है। तुम भौतिक जीवन से ऊपर उठ जाते हो और तुम्हें अमरता का बोध होता है। मैं, मैं तो इसी को सर्वश्रेष्ठ इलाज मानती हूँ।...

हाँ, अब एक तीसरी चीज़ भी है जिसे तुम्हें जानना चाहिये। लेकिन इसके लिए तुम्हें महायोगी होना चाहिये। इसका अर्थ है यह जानना कि मृत्यु कोई अनिवार्य चीज़ नहीं है, यह एक ऐसा संयोग है जो अभी तक होता रहा है (ऐसा लगता है कि यह अभी तक हमेशा ही होता रहा है), कि हमने अपने मस्तिष्क में, अपने संकल्प में यह ठान लिया है कि इस संयोग को जीत कर, इस पर विजय पाकर रहेंगे। लेकिन यह भयंकर है, 'प्रकृति' के विधान के विरुद्ध, समस्त सामूहिक धारणाओं, समस्त पार्थिव अभ्यासों के विरुद्ध घोर संग्राम है। जैसा कि मैंने कहा, जब तक तुम प्रथम कोटि के योद्धा नहीं हो जिसे कोई नहीं डरा सकता, तब तक इस संग्राम को शुरू न करना ही ज़्यादा अच्छा है। तुम्हें पूर्ण रूप से निर्भीक योद्धा होना चाहिये, क्योंकि हर पग पर, हर पल तुम्हें सभी स्थापित वस्तुओं के विरुद्ध युद्ध करना होगा। तो यह बहुत आसान चीज़ नहीं है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३४७-४८

सचेतनतः अपने भागवत केन्द्र के चारों ओर एकत्र होओ

कभी-कभी मरते समय लोगों को पता होता है कि वे मरने वाले हैं, तो उस समय वे मृत्यु की आत्मा को चले जाने के लिए क्यों नहीं कह देते?

ओह! यह लोगों पर निर्भर करता है। दो चीज़ें ज़रूरी हैं। सबसे पहले, तुम्हारी सत्ता में कोई चीज़, तुम्हारी सत्ता का कोई भाग मरना न चाहता हो, यह बहुधा नहीं होता। तुम्हारे अन्दर हमेशा कहीं-न-कहीं, एक पराजयवादी बैठा होता है, कोई ऐसी चीज़ जो थक गयी है, कोई ऐसी चीज़ जिसमें घृणा या जुगुप्सा के कारण विरक्ति आ गयी है, कोई चीज़ जो कहती है: "बस, बहुत हो लिया," कोई चीज़ जो आलसी है, कोई चीज़ जो संघर्ष

नहीं करना चाहती और कहती है : "अच्छा, चलो ! ख़तम करो, यह बहुत ज़्यादा अच्छा होगा।" इतना काफ़ी है और तुम मर जाते हो।

लेकिन यह तथ्य है : अगर तुम्हारे अन्दर कोई चीज़, कोई भी चीज़ मरना न चाहे, तो तुम नहीं मरोगे। मरने वाले के लिए हमेशा एक सेकेण्ड, शायद सेकेण्ड का भी सौंवा हिस्सा ऐसा होता है जब वह मौत के लिए अपनी स्वीकृति दे देता है। अगर निमिषमात्र की यह स्वीकृति न हो तो वह नहीं मरता।

मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिन्हें सचमुच सभी भौतिक और प्राणिक नियमों के अनुसार मर जाना चाहिये था, लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया, उन्होंने कहा : "नहीं, मैं नहीं मरूँगा," और वे जीते रहे। दूसरे ऐसे होते हैं जिन्हें मरने की कोई ज़रूरत नहीं, परन्तु वे उस प्रकार के हैं और कहते हैं : "हाँ, ठीक है, ज़्यादा अच्छा है, क़िस्सा ख़तम," और क़िस्सा ख़तम हो जाता है। उतना ही, उससे कुछ भी ज़्यादा नही। तुम्हारे अन्दर सतत इच्छा की ज़रूरत नहीं, तुम्हें बस इतना ही कहना होगा : "बस, काफ़ी हो गया !" और क़िस्सा ख़तम हो जायेगा। तो सचमुच ऐसा ही है। जैसा तुम कहते हो, मृत्यु तुम्हारे बिस्तर के पास खड़ी हो और तुम कह दो : "मैं तुम्हें नहीं चाहता, चली जाओ," और वह जाने के लिए बाधित होगी। लेकिन साधारणतः, व्यक्ति हार मान लेता है। क्योंकि व्यक्ति को संघर्ष करना चाहिये, उसे मज़बूत होना चाहिये, उसे बहुत साहसी और सहनशील होना चाहिये, उसे जीवन की आवश्यकता पर बहुत विश्वास होना चाहिये; उदाहरण के लिए, उस व्यक्ति की तरह जो बहुत ज़ोर से यह अनुभव करता है कि अभी उसे कोई काम करना है और उसे वह अवश्य करना ही है। लेकिन निश्चित रूप से कौन कह सकता है कि उसमें पराजयवादी का लेशमात्र भी नहीं है, कहीं भी ऐसा कुछ नहीं है जो कहता है : "ठीक है"?... यहीं है अपनी सारी सत्ता को एक करने की आवश्यकता।

हम चाहे जिस मार्ग का अनुसरण करें, किसी भी विषय का अध्ययन करें, हम उसी परिणाम पर पहुँचते हैं। व्यक्ति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, अपने भागवत केन्द्र के चारों ओर अपने-आपको एक करना; इस तरह वह सच्चा व्यक्ति बन जाता है, और अपनी नियति का और अपने-आपका स्वामी बन जाता है, अन्यथा वह ऐसी शक्तियों का खिलौना रहता है जो

उसे नदी में पड़े कॉर्क के टुकड़े की तरह इधर-उधर उछालती रहती हैं। वह जहाँ नहीं जाना चाहता वहाँ जाता है, वह जो नहीं करना चाहता वही उससे करवाया जाता है, और अन्त में वह एक छिद्र में जा गिरता है जहाँ से बचने के लिए उसमें शक्ति नहीं होती। लेकिन अगर तुम सचेतन रूप से संगठित हो, भागवत केन्द्र के चारों ओर एकीकृत हो, वही तुम पर शासन और तुम्हारा निर्देशन करे, तो तुम अपनी नियति के स्वामी हो। यह प्रयास कष्ट उठाने-योग्य है। बहरहाल, मुझे दास होने की अपेक्षा स्वामी होना ज़्यादा पसन्द है। यह एक बड़ा ही अप्रिय संवेदन है कि तुम्हें ऐसा लगे कि तुम्हें रस्सियों से खींचा जा रहा है और तुम चाहो या न चाहो, इसकी कोई परवाह नहीं, बस, तुमसे कुछ करवाया जा रहा है—तुम करने के लिए बाधित हो क्योंकि कोई चीज़ तुम्हें रस्सियों से खींच रही है, कोई ऐसी चीज़ जिसे तुम देख भी नहीं सकते—यह बहुत क्षुब्ध करने वाली चीज़ है। फिर भी, मुझे मालूम नहीं, जब मैं बहुत छोटी बच्ची थी तब भी मुझे यह चीज़ बहुत क्षुब्ध करने वाली लगती थी। पाँच वर्ष की अवस्था में ही यह मुझे एकदम असह्य प्रतीत होने लगी और मैं इसका विकल्प सोचने लगी, ऐसा विकल्प कि लोगों को मुझे डाँट-फटकार करने का मौक़ा ही न मिले। क्योंकि मैं ऐसे किसी व्यक्ति को न जानती थी जो मेरी सहायता कर सकता। मुझे वह अवसर प्राप्त न था जो तुम्हें प्राप्त है, कोई ऐसा व्यक्ति जो कह सके : "तुम्हें यह करना चाहिये!" ऐसा कोई न था जो मुझे यह बता सकता। मुझे अपने-आप ही पता लगाना था और मैंने पता लगा लिया। मैंने पाँच वर्ष की अवस्था में शुरू किया था। और तुम, तुम तो बहुत पहले पाँच वर्ष के थे...।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १५१-५३

मृत्यु से किसी चीज़ की आशा मत करो। जीवन ही तुम्हारे लिए मुक्ति है।

बस, जीवन में रह कर ही तुम्हें अपने-आपको रूपान्तरित करना चाहिये। इस पृथ्वी पर ही तुम उन्नति कर सकते हो और इस पृथ्वी पर ही सिद्धि पा सकते हो। इस शरीर में ही तुम 'विजयश्री' को अधिकृत कर सकते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २१२

वृद्धावस्था और मृत्यु

यदि व्यक्ति यह अनुभव करे कि उसका इस जीवन का कार्य समाप्त हो गया है और अब भेंट देने के लिए उसके पास और कुछ नहीं बचा तो क्या एक लक्ष्यहीन अस्तित्व को घसीटने की अपेक्षा मर कर दोबारा जन्म लेना अधिक अच्छा नहीं है?

यह वह प्रश्न है जो एक असन्तुष्ट अहं अपने-आपसे उस समय पूछता है जब उसे लगता है कि वस्तुएँ उसकी इच्छानुसार नहीं चल रहीं।

किन्तु जो व्यक्ति भगवान् का है और सत्य में ही निवास करना चाहता है वह यह जानता है कि भगवान् उसे पृथ्वी पर तब तक रखेंगे जब तक वह उनकी दृष्टि में पृथ्वी पर उपयोगी होगा, जब पृथ्वी पर उसके करने-लायक़ कुछ न रहेगा तो उसे हटा देंगे। अतएव, यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता। और तब व्यक्ति भगवान् की सर्वोच्च बुद्धिमत्ता की निश्चयता में शान्तिपूर्वक निवास करेगा।

आपने कल लिखा था : "किन्तु जो व्यक्ति भगवान् का है...।" प्रत्येक प्राणी, चाहे वह कोई भी हो, क्या भगवान् का नहीं है?

जब मैं कहती हूँ : "जो व्यक्ति भगवान् का है", तो मैं उस व्यक्ति की बात कहती हूँ जिसने अपने अहं से मुक्ति पा ली है, जो सदा भगवान् के प्रति सचेतन रहता है, जिसकी कोई व्यक्तिगत इच्छा नहीं है, जो केवल भागवत प्रेरणा से ही कार्य करता है और जिसका इसके सिवाय कोई और लक्ष्य नहीं है कि वह वही करे जो भगवान् उससे करवाना चाहते हैं।

मुझे नहीं लगता कि ऐसे लोग अधिक हैं जो इस अवस्था में हों। और यह भी निश्चित है कि वे इस बात की कभी चिन्ता नहीं करेंगे कि उनका जीवन पृथ्वी पर उपयोगी है या नहीं, क्योंकि वे केवल भगवान् के लिए तथा उन्हीं के द्वारा जीवन धारण करते हैं, उनका कोई वैयक्तिक जीवन नहीं रह जाता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३७१-७२

जब तक कि हम शरीर में हैं, चाहे उसकी कितनी भी उमर और कठिनाइयाँ क्यों न हों, यह निश्चित है कि हमें इसमें कुछ करना या सीखना है, और यह विश्वास सभी प्रतिकूलताओं का सामना करने के लिए आवश्यक बल देता है।...

तुम्हें उतावली में न होना चाहिये और प्रस्थान की जल्दी न करनी चाहिये, चाहे वह शाश्वत विश्राम या शून्यता के परमानन्द के लिए ही क्यों न हो। जब तक हम शरीर में हैं तब तक निःसन्देह हमें कुछ करना या सीखना होता है।

*

मृत्यु का यह सुझाव 'अहं' से आता है जब वह यह अनुभव करता है कि उसे जल्दी ही पद छोड़ना पड़ेगा। शान्त और निर्भीक रहो। सब कुछ ठीक हो जायेगा।

*

तुम सम्पूर्ण त्याग की बात कर रहे हो, लेकिन शरीर को छोड़ना सम्पूर्ण त्याग **नहीं** है। सच्चा और पूर्ण त्याग है, अहं का त्याग जो कहीं अधिक दुःसाध्य प्रयास है। अगर तुमने अपने अहं को न त्यागा हो तो शरीर छोड़ देने से तुम्हें मुक्ति नहीं मिलेगी।

*

मृत्यु के बारे में तुम जैसा सोचते हो वह वैसी बिलकुल नहीं है। तुम मृत्यु से अचेत विश्राम की निरपेक्ष शान्ति की आशा रखते हो। लेकिन उस विश्राम को पाने के लिए तुम्हें उसके लिए तैयारी करनी होगी।

जब किसी की मृत्यु होती है तो वह केवल अपना शरीर ही नहीं खोता, बल्कि साथ-ही-साथ जड़-भौतिक जगत् पर क्रिया और उसके साथ सम्बन्ध की सम्भावनाओं को भी खो बैठता है। लेकिन वह सब जो प्राण जगत् का है, वह जड़-भौतिक तत्त्व के साथ विलीन नहीं होता; उसकी सभी कामनाएँ, आसक्तियाँ, लालसाएँ कुण्ठा और निराशा के भाव के साथ डटी रहती हैं, और यह सब कुछ उसे प्रत्याशित शान्ति पाने से रोकता है। शान्त और घटनाविहीन मृत्यु के आनन्द के लिए तुम्हें उसकी तैयारी करनी होगी।

और एकमात्र प्रभावकारी तैयारी है, कामनाओं का विलयन।

जब तक हमारा शरीर है हमें क्रिया करनी पड़ती है, काम करना पड़ता

है, कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है; लेकिन अगर परिणाम की आशा के बिना या यह चाहे बिना कि चीज़ इस तरह हो या उस तरह हो, हम चीज़ों को यूँ ही करते चलें क्योंकि उन्हें करना है, तो हम क्रमशः निर्लिप्त होते जायेंगे और इस तरह अपने-आपको शान्तिपूर्ण मृत्यु के लिए तैयार कर सकेंगे।

*

अगर तुम मृत्यु से बच निकलना चाहते हो तो तुम्हें अपने-आपको किसी भी नश्वर वस्तु से नहीं बाँधना चाहिये।

तुम केवल उसी को जीत सकते हो जिससे तुम भय नहीं खाते, और जो मृत्यु से भय खाता है वह पहले से ही मृत्यु से पराजित हो चुका है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १३१-३३

चूँकि मेरी प्रकृति कमज़ोर है इसलिए साधारण चीज़ों को त्यागना कठिन हो जाता है। लेकिन, यह निश्चित है कि मैं केवल आपको ही चाहता हूँ। अगर आप न हों तो मृत्यु—और कुछ नहीं।

मरने का कोई प्रश्न ही नहीं है। शरीर को छोड़ना कोई हल नहीं है। तुम अपनी कामनाओं में ही रहते हो और यह ज़्यादा ख़राब है। यह बहुत ज़्यादा समझदारी की और सच्ची बात है कि यह समझ कर कामनाओं को मर जाने दो कि वे कितनी मूर्खताभरी और व्यर्थ हैं।

चूँकि तुम भागवत जीवन को इतना अधिक चाहते हो इसलिए तुम्हें असफलता से डरना नहीं चाहिये, क्योंकि सच्ची और सतत अभीप्सा हमेशा पूरी होती है।

अपनी कमज़ोरियों को जीतने का दृढ़ निश्चय कर लो और तुम देखोगे कि यह इतना मुश्किल नहीं है जितना दीखता है। बाधाओं को पार करने के लिए मेरी शक्ति तुम्हारे साथ है और मेरे आशीर्वाद भी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. १३७

स्नायुओं में शान्ति : अच्छे स्वास्थ्य के लिए अपरिहार्य।

श्रीमाँ

आत्महत्या

यह निश्चित रूप से जान लो कि मनुष्य जो कुछ कर सकता है उसमें आत्महत्या सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण क्रिया है, क्योंकि शरीर के अन्त का अर्थ चेतना का अन्त नहीं होता और जो चीज़ तुम्हें जीते-जी तंग कर रही थी वही मरने पर भी तंग करती रहती है। जीते-जी तुम मन की दिशा बदल सकते हो पर मरने पर वह सम्भावना नहीं रहती।

*

मैं अनुभव करता हूँ कि मैं निष्फल भाग्य के साथ जन्मा आपका शून्य बालक हूँ; ऐसे बालक के लिए जीवन में सम्पादित करने के लिए कोई कार्य नहीं है। क्या जगत् से चले जाना ज़्यादा अच्छा न होगा?

तुम्हें **इसी** जगत् में बदलना होगा और परिवर्तन सम्भव है। अगर तुम इस जगत् से भाग जाओगे तो तुम्हें वापस आना पड़ेगा, शायद अधिक बुरी परिस्थितियों में आना पड़े और तुम्हें सारी चीज़ फिर एक नये सिरे से करनी पड़ेगी।

ज़्यादा अच्छा है कि भीरु मत बनो, अभी परिस्थिति का सामना करो और उस पर विजय पाने के लिए आवश्यक प्रयास करो। सहायता सदैव तुम्हारे साथ है; तुम्हें उससे लाभ उठाना सीखना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १४१

आत्म-हत्या करने पर व्यक्ति को कष्ट क्यों होता है?

व्यक्ति आत्म-हत्या क्यों करता है? क्योंकि वह कायर होता है...। जब व्यक्ति कायर होता है तो हमेशा तकलीफ़ पाता है।

और अगले जीवन में वह फिर से कष्ट पाता है?

चैत्य पुरुष किसी निश्चित लक्ष्य से, विशेष प्रकार के अनुभवों में से गुज़रने के लिए, सीखने और प्रगति करने के लिए आता है। अगर तुम उसका

काम पूरा होने से पहले शरीर छोड़ दो, तो उसे फिर से वही काम और भी ज़्यादा कठिन परिस्थितियों में पूरा करने के लिए वापस आना पड़ेगा। तो एक जीवन में तुमने जिन-जिन चीज़ों से बचने की कोशिश की है उन सबको अगले जीवन में फिर से पाओगे, और तब वे ज़्यादा कठिन होंगी। और इस तरह छोड़े बिना भी, अगर तुम्हें जीवन में कुछ कठिनाइयों को पार करना है, जैसा कि सामान्यतया कहते हैं कि तुम्हें कोई परीक्षा पास करनी है, समझे; और, अगर तुम इस बार पास न कर सको या उधर से मुँह मोड़ लो, या उसे पास करने की बजाय वहाँ से चले जाओ तो तुम्हें उसे फिर से पास करना होगा, और तब वह पहली बार की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन होगी।

तुम जानते ही हो कि लोग बहुत अज्ञानी होते हैं, वे समझते हैं कि चीज़ इस प्रकार है: जीवन है, और फिर मृत्यु है; जीवन कष्टों की गठरी है, और मृत्यु शाश्वत शान्ति। लेकिन बात ऐसी हर्गिज़ नहीं है। साधारणतः, जब कोई सहसा, बिलकुल मनमाने ढंग से, अज्ञान-भरे और अन्धकारपूर्ण आवेग में जीवन से बाहर चला जाता है तो प्रायः वह सीधा इन तमाम आवेगों और समस्त अज्ञान से भरे प्राणमय जगत् में चला जाता है। तो वह जिन कष्टों से बचना चाहता था, फिर से उन्हीं को पाता है और अब वह सुरक्षा भी प्राप्त नहीं होती जो शरीर प्रदान करता है, क्योंकि—अगर तुमने कभी दुःस्वप्न देखा है, यानी, प्राणमय जगत् में अँधाधुन्ध यात्रा की है तो तुम्हारे पास उपाय होता है, अपने-आपको जगा देना, यानी, तुरन्त अपने शरीर में दौड़ आना। लेकिन जब तुमने शरीर को नष्ट कर दिया, तो फिर रक्षा करने के लिए तुम्हारे पास शरीर नहीं रहता। इसलिए तुम अपने-आपको निरन्तर दुःस्वप्न में पाते हो जो बहुत सुखद नहीं होता। क्योंकि दुःस्वप्न से बचने के लिए तुम्हें चैत्य चेतना में होना चाहिये, और जब तुम चैत्य चेतना में होते हो, तो निश्चय जानो कि चीज़ें तुम्हें कष्ट न देंगी। जैसा कि मैंने कहा, निरन्तर जो प्रयास होना चाहिये, उसके समक्ष यह सचमुच अज्ञानपूर्ण अन्धकार की चेष्टा है और बहुत बड़ी कायरता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २५-२६

मर कर नहीं, बल्कि जीकर तुम 'प्रेम' को चरितार्थ कर सकते हो।

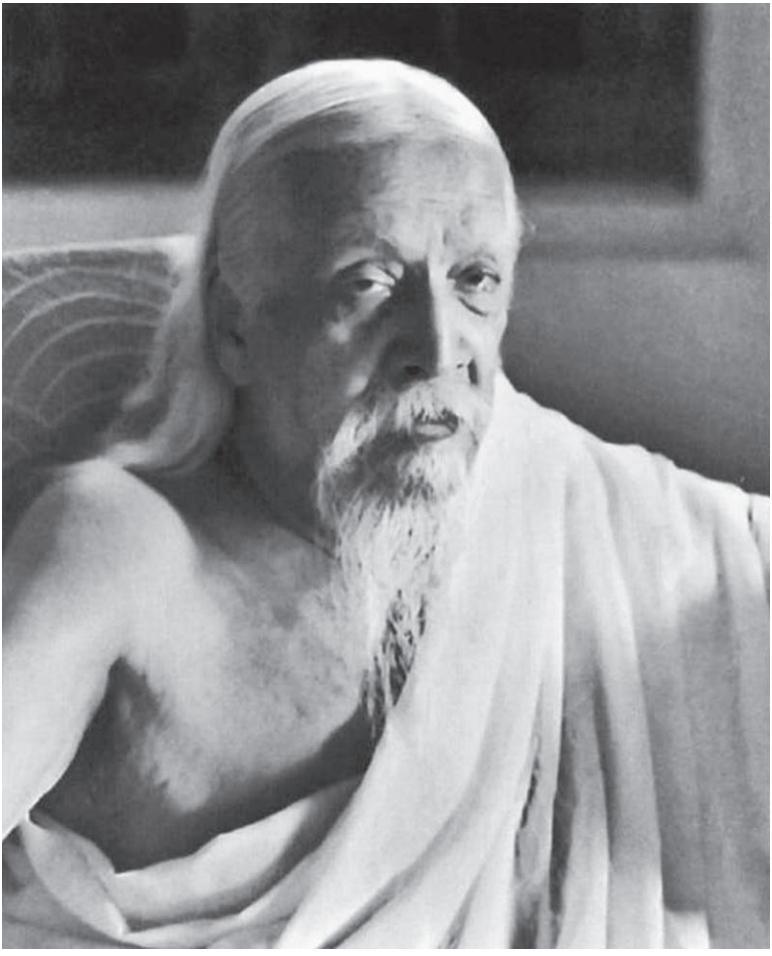

देखा है जिन्होंने मुझे, कभी न होंगे सन्तप्त वे।
'सावित्री', पृ. ६८४

क्या मृत्यु का क्षण पूर्वनियत होता है

आपने कहा है : "व्यक्ति मृत्यु के समय को न तो टाल सकता है, न उसे शीघ्र ही ला सकता है।"... अतएव, यदि व्यक्ति प्रगति करता रहे, तो वह उस घड़ी को टाल सकता है। या फिर क्या इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के जन्म से ही उसकी मृत्यु का दिन और क्षण निश्चित हो चुका होता है?

नहीं। यह बिलकुल और ही बात है और है भी एक अन्य स्तर की। मैंने कहीं यह भी लिखा है कि व्यक्ति केवल तभी मरता है जब वह मरना स्वीकार कर ले—यह बात उस बात की विरोधी मालूम होती है जो मैंने यहाँ कही है। किन्तु सत्य यही है। मेरा ख़याल है, मैं यह बात तुम्हें एक बार पहले भी कह चुकी हूँ; बहरहाल, मैंने यह कहीं लिखा अवश्य है। इसके दो दृष्टिकोण हैं। यहाँ मैंने अपनी बात एक बड़े सामान्य, स्थूल और भौतिक चेतना के दृष्टिकोण से कही है। किन्तु मैंने किसी स्थान पर यह भी समझाया है कि हमारी सत्ता में मानों "नियतियों के विभिन्न स्तर" हैं। भौतिक सत्ता की अपनी एक नियति है; प्राणिक सत्ता की अपनी नियति है; मानसिक सत्ता की अपनी; उच्चतर मन और अन्तरात्मा की भी अपनी-अपनी नियति है। और फिर उच्चतर सत्ताओं की भी अपनी नियतियाँ हैं —अतिमानसिक सत्ता की अपनी नियति है। प्रत्येक की नियति इन सब नियतियों के संयोग से बनती है। यदि, उदाहरणार्थ, किसी एक क्षण, जब समूची भौतिक नियति को मृत्यु लानी ही होती है, तब यदि तुम एक अत्युच्च नियति के सम्पर्क में आ जाते हो, उदाहरणार्थ, अतिमानसिक नियति के सम्पर्क में आकर दोनों को जोड़ने में सफल हो जाते हो, तब उस क्षण तुम भौतिक नियति को पूर्णतया बदल देते हो : जो मृत्यु भौतिक नियति से निर्धारित थी वह टल जाती है, और अवस्थाएँ बदल जाती हैं और उन्हें पीछे हटा दिया जाता है।

मैंने यह सब इस लेख में नहीं कहा है। यहाँ मैंने केवल भौतिक दृष्टिकोण से अपने विचार प्रकट किये हैं। मैंने ऐसे लोगों के दृष्टान्त दिये हैं (उन लोगों के जो प्रायः पूर्ण रूप से अपनी भौतिक चेतना में, यानी, मानसिक,

प्राणिक और स्थूल चेतना में निवास करते थे, समझे!), जो पचास वर्ष के होते ही उत्सुकतापूर्वक मरने की कामना करने लगे थे—पर जिये सत्तासी वर्षों तक! मेरे पास एक ऐसा उदाहरण है। मेरे पास एक उदाहरण और भी है जो बिलकुल इसका उलटा है, एक ऐसे व्यक्ति का जिसमें लम्बा जीवन पाने की बड़ी तीव्र इच्छा थी, वह सोचता था कि उसे जीवन में बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य करने हैं, अतएव उसे मरना नहीं चाहिये, और उसके लिए वह बड़ी सतर्कता बरतता रहा—पर फिर भी वह चल बसा। ऐसे उदाहरण परस्पर-विरोधी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु यह उनका केवल बाहरी रूप है। इन सब वस्तुओं की व्याख्या की जा सकती है, ये विभिन्न नियमों का पालन करती हैं। यहाँ मैंने केवल स्थूल दृष्टिकोण अपनाया है।

यदि तुम एक उच्चतर नियति का हस्तक्षेप नहीं करवा सकते, तो सचमुच तुम किसी भी वस्तु को नहीं बदल सकते। भौतिक नियति को बदलने का एकमात्र तरीक़ा यही है। यदि तुम अपनी भौतिक चेतना में ही बने रह कर अपनी नियति को बदलना चाहो, तो यह नहीं कर सकते...। पहले महायुद्ध में मैं एक ऐसे लड़के को जानती थी जिसे यह बताया गया था कि उसकी मृत्यु गोली लगने से होगी (तुम जानते ही हो कि युद्ध में मृत्यु बड़ी सरलता से आ जाती है), और उसे लगभग तारीख़ भी बता दी गयी थी। और उससे उसे इतनी यन्त्रणा हुई कि वह किसी भाँति लम्बी छुट्टी पाने में सफल हो गया। वह छुट्टी में पैरिस आया। वह एक अफ़सर था और उसकी जेब में पिस्तौल रहती थी। वह ट्राम से कूदा और गिर पड़ा, पिस्तौल स्वयं ही चली और उसके गोली लग गयी और वह तत्काल मर गया। वह बच नहीं सका।

मैं तुम्हें ऐसे कितने ही उदाहरण बता सकती हूँ। किन्तु ये एक ही स्तर के हैं, भौतिक स्तर के—शुद्ध रूप से जड़-भौतिक के, मानसिक और प्राणिक स्तर के। केवल उच्चतर ज्ञान और उच्चतर स्तरों के साथ सम्पर्क से और इन उच्चतर स्तरों के भौतिक स्तर में अवतरण से ही परिस्थितियों को बदला जा सकता है। इसी प्रकार, यदि अतिमानसिक स्तर को स्थायी रूप से भौतिक जीवन में उतारा जा सके, तो भौतिक जीवन का रूपान्तर हो जायेगा, दूसरे शब्दों में, वह पूरी तरह से बदल जायेगा। किन्तु शर्त यही है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ५५-५७

मृत्यु के बाद क्या होता है

"मृत्यु के क्षेत्र" का क्या अर्थ है?

इसके विषय में प्रत्येक धर्म ने भिन्न-भिन्न बातें कही हैं। यूनानियों का "एलिज़ियम" था, व्यक्ति "नौका" में वहाँ जाता था। सभी प्रकार के स्वर्ग और नरक वहाँ हैं।...

सामान्यतया, "मृत्यु का क्षेत्र" नाम अत्यधिक स्थूल प्राणिक जगत् के एक क्षेत्र को दिया जाता है, उस जगत् को जिसमें व्यक्ति शरीर छोड़ने के बाद प्रवेश करता है। उसके जीवन का वह भाग—इसे कैसे कहा जाये?—जो कि साधारणतया सबसे अधिक सचेतन होता है, मृत्यु के समय उस क्षेत्र में प्रक्षिप्त किया जाता है। हाँ, तो वह क्षेत्र, वह स्थूल प्राणिक जगत् बड़ा अन्धकारमय होता है, वह उन विरोधी रचनाओं से भरपूर होता है जिनके केन्द्र में कामनाएँ, बल्कि विरोधी संकल्प-शक्तियाँ भी रहती हैं; ये वे बहुत, बहुत ही प्रारम्भिक सत्ताएँ होती हैं जिनका जीवन बड़ा ही खण्डित होता है, बल्कि वे ख़ून चूसने वाले भूत-प्रेत-जैसे होते हैं जो मानवीय सत्ताओं में से फेंके गये टुकड़ों पर निर्वाह करते हैं। अतएव, उस समय, मृत्यु के आघात के समय—ऐसे बहुत कम लोग हैं जो बिना आघात पाये मर जाते हैं, अर्थात्, मृत्यु-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान के साथ, सचेतन रूप में शरीर से बाहर जाते हैं, ऐसे लोग अधिक नहीं हैं—सामान्यतया वह एक दुर्घटना होती है : अन्तिम दुर्घटना; हाँ तो, मृत्यु के उस आघात के समय वे सत्ताएँ वहाँ, उस प्राणिक सत्ता पर, जो बाहर चली जाती है, लपक पड़ती हैं और उसे अपना आहार बना लेती हैं। जब तक व्यक्ति जीवित रहता है, वे उसका स्पर्श नहीं कर सकतीं। तुम सबको ऐसे दुःस्वप्न का अनुभव होगा जिसमें स्थिति के सचमुच संकटपूर्ण होने पर तुम अचानक जाग उठते हो—तुम अपने शरीर में लौट आते हो, क्योंकि शरीर तुम्हारा सुरक्षा-कवच है। शरीर में वे तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं किन्तु जब तुम शरीर से पूर्णतया बाहर होते हो (यह कड़ी, जिसके बारे में मैंने तुम्हें बताया था, तुम्हारे शरीर से बाहर चले जाने पर तुम्हारी कुछ हद तक रक्षा करती है), यदि ये कड़ियाँ टूट जायें और तुम सर्वथा बिना शरीर के हो जाओ,

तो ऐसा ही होगा, जब तक कि तुम किन्हीं विशेष परिस्थितियों से फ़ायदा न उठा सको... उदाहरणार्थ, यदि मृत व्यक्ति पर उसके प्रिय सम्बन्धी जो उसे बहुत प्यार करते हैं, अपने प्रेमपूर्ण विचार केन्द्रित और एकाग्र करें, तो उसे वहाँ आश्रय मिल जाता है, और फिर यह बात उसे उन सत्ताओं के विरुद्ध पूर्ण सुरक्षा प्रदान करती है; किन्तु यदि मृत व्यक्ति का ऐसा सम्बन्धी न हो जिसे उसके लिए विशेष मोह हो, और वह उस समय उन व्यक्तियों से घिरा हो जिन्हें उसने नुक़सान पहुँचाया है और जो उसे प्यार नहीं करते अथवा जो बहुत अधिक अचेतन हों—तो वह ऐसी शक्तियों का शिकारमात्र रह जाता है। ओह, यह एक ऐसा अनुभव है जिसे सह पाना बहुत अधिक कठिन होता है। ये शक्तियाँ केवल उसी का स्पर्श कर सकती हैं जो उनके अपने क्षेत्र की वस्तु, अत्यधिक स्थूल प्राणिक वस्तु हो—उच्चतर प्राण उनकी पकड़ से सर्वथा छूट जाता है, वहाँ वे कुछ नहीं कर सकतीं। इस प्रकार, स्थूल प्राणिक सत्ता तो बाहर चली जाती है, किन्तु दूसरी पीछे रह जाती है; और इस उच्चतर प्राणिक सत्ता पर सामान्य रूप से अन्य संकटों का आक्रमण होता है। और यदि यह भी चली जाये, तो मन पीछे रह जाता है। किन्तु इस सबके पीछे आन्तरात्मिक सत्ता होती है जिसे कोई स्पर्श नहीं कर सकता, जो सभी सम्भव आक्रमणों से परे है, और वह सचमुच अपनी इच्छा से कहीं भी जा सकती है। साधारणतया—जब तक कि कोई विशेष अवसर न हो और वह पूर्ण विकास की अवस्था तक न पहुँच चुकी हो—वह आन्तरात्मिक जगतों में विश्राम करने चली जाती है। वहाँ वह एक प्रकार की परम आनन्दपूर्ण ध्यानावस्था में जाकर कुछ समय ठहरती है, और अपने सारे अनुभवों को आत्मसात् करती है, और जब वह उन्हें आत्मसात् कर लेती है और विश्राम भी कर चुकती है, तो वह पुनः एक नया जीवन ग्रहण करने के लिए नीचे आने की तैयारी में जुट जाती है। इस सत्ता का स्पर्श कोई नहीं कर सकता। किन्तु अपनी आन्तरात्मिक सत्ता के प्रति सचेतन होने वाले व्यक्ति इतने कम होते हैं कि ऐसा कहना बड़ा कठिन होता है कि यह अमुक-अमुक व्यक्ति है जिसे हम जानते हैं, क्योंकि लोग, जैसा कि हम उन्हें जानते हैं, आख़िर किस वस्तु से बने हैं?—उन्हीं सब भौतिक अनुभूतियों से, अपनी प्राणिक प्रतिक्रियाओं से, अपनी मानसिक रचनाओं से—यही सब : शरीर, चरित्र, विचार—और यह

है हमारी मानव-सत्ता! हाँ, तो यह सब मृत्यु के बाद नहीं टिक सकता जब तक कि वह आन्तरात्मिक सत्ता के चारों ओर इस हद तक संगठित और केन्द्रित न हो कि वह आन्तरात्मिक सत्ता के साथ पूर्णतया युक्त हो जाये। अन्यथा यह सारा मिश्रण विघटित हो जायेगा और आन्तरात्मिक सत्ता पीछे अकेली रह जाती है, कभी केवल एक लौ के रूप में और कभी एक पूर्ण सचेतन सत्ता के रूप में।

यह तो एक सामान्य नियम है। पर वहाँ कई सेतु, "सुरक्षित मार्ग" भी होते हैं जिनका निर्माण प्राणिक जगत् में इसलिए हुआ है कि इन पर से होकर व्यक्ति इन सब संकटों से पार हो सके। कुछ ऐसे वातावरण होते हैं जो उन लोगों को, जो अपना शरीर छोड़ रहे होते हैं, आश्रय और संरक्षण देते हैं। वहाँ सभी प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं; जो मैंने तुम्हें अभी बतायी है वह मृत व्यक्ति की, सर्वसाधारण मनुष्य की सामान्य अवस्था है, किन्तु यदि हम ज़रा अधिक उच्च प्रकार की मानवता को लें, तो ये सब अवस्थाएँ बदल जाती हैं। सामान्य नियम तब तक बना रहता है जब तक कि सत्ता के अन्दर एक विशेष प्रकार का उच्चतर विकास साधित न हो जाये। कई लोगों की सत्ता में संघटन इतना पूर्ण होता है कि वे अपने शरीर पर निर्भर नहीं करते—बिलकुल नहीं—चाहे वह हो या न हो।

किन्तु सत्ता का यह सारा विकास ऐसे ही नहीं आ जाता कि बस, किसी-किसी समय इसके बारे में सोच लिया, इसके लिए इच्छा और भी कम की जाये और अधिकतर व्यक्ति इसे भूला रहे—नहीं, यह कार्य ऐसे नहीं हो सकता। ये भी एक प्रकार के अनुशासन हैं और मैं कह सकती हूँ कि ये भी उतने ही कड़े अनुशासन हैं जितने कि कठोरतम आध्यात्मिक अनुशासन...। मूल रूप से हम इसी कार्य के लिए पृथ्वी पर आये हैं। सच पूछो तो मानव इसी उद्देश्य से बनाये गये हैं, इसी कार्य को करने के लिए, और चूँकि वे इसे करना अस्वीकार करते हैं शायद इसीलिए इस जगत् में इतनी अस्तव्यस्तता है। यदि वे इसे सच्चाई से करते, तो वस्तुस्थिति कहीं अधिक अच्छी होती।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ६३-६५

जीवन अमर है। केवल शरीर ही विघटित होता है। श्रीमाँ

मृत्यु के भय को कैसे जीता जाये

सामान्यतः मानव-प्रगति को रोकने वाली सबसे बड़ी बाधा शायद भय है; भय के रूप विविध तथा असंख्य होते हैं, वह स्व-विरोधी, तर्कहीन, अनुचित और प्रायः अविवेकी होता है। मृत्यु का भय सब प्रकार के भयों में सबसे अधिक सूक्ष्म और हठीला होता है। उसकी जड़ें अचेतना तक में गहरी पैठी होती हैं और वहाँ से उन्हें उखाड़ फेंकना आसान नहीं होता। स्पष्ट है कि यह भय कई मिश्रित तत्त्वों से बना होता है; ये चीज़ें हैं, स्थायित्व की भावना, आत्म-रक्षा की चिन्ता जिसका भाव होता है कि चेतना का सूत्र लगातार सुनिश्चित रूप से चलता रहे, अज्ञात के प्रति घबराहट, अप्रत्याशित और अदृष्ट से उत्पन्न उद्वेग और शायद इस सबके पीछे कोषाणुओं की गहराई में छिपी हुई यह सहज भावना काम करती है कि मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे बचा न जा सके और यह भी कि यदि कुछ शर्तें पूरी की जा सकें तो उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है; यद्यपि यह सत्य है कि स्वयं भय ही इस विजय के मार्ग में एक भारी बाधा है। कारण, हम उसी पर विजय प्राप्त कर सकते हैं जिससे हम डरते नहीं, और जो मृत्यु से डरता है वह पहले से ही मृत्यु के द्वारा विजित हो चुका है।

इस भय से कैसे छुटकारा पाया जाये? इसके लिए कई तरीक़े काम में लाये जा सकते हैं। किन्तु अपने इस प्रयास के प्रारम्भ में ही कुछ सहायक मूलभूत विचारों को जान लेना आवश्यक है। पहली और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह जान लेना है कि जीवन अविभाज्य और अमर है, बस, उसके रूप अनगिनत होते हैं और वे रूप ही क्षणिक तथा नाशवान् होते हैं। यह ज्ञान व्यक्ति को अपने मन में निश्चित और स्थायी रूप से जमा लेना चाहिये और यथासम्भव अपनी चेतना को उस नित्य जीवन के साथ एकात्म कर लेना चाहिये जो सब रूपों से स्वतन्त्र है, पर फिर भी अपने-आपको सब रूपों में अभिव्यक्त करता है। इससे हमें यह आवश्यक मनोवैज्ञानिक आधार मिल जाता है जहाँ से समस्या का सामना किया जा सकता है, क्योंकि समस्या तो है ही। आन्तरिक सत्ता यदि इतनी पर्याप्त मात्रा में आलोकित हो भी जाये कि वह सब भयों से ऊपर उठ जाये, फिर भी शरीर के कोषाणुओं में भय छिपा ही रहेगा, अस्पष्ट और स्वतःचालित

रूप में, बुद्धि की पकड़ से परे, प्रायः अचेतन-सा। इन्हीं अँधेरी गहराइयों में से व्यक्ति को उसे ढूँढ़ निकालना होगा, पकड़ना होगा और उस पर चेतना तथा विश्वास का प्रकाश डालना होगा।

इसलिए, जीवन का नाश तो नहीं होता, रूप अवश्य विघटित हो जाता है और शारीरिक चेतना इसी विघटन से भय खाती है। फिर भी, रूप लगातार परिवर्तित होते रहते हैं और कोई भी वस्तु इस परिवर्तन को प्रगतिशील होने से नहीं रोक सकती। यह प्रगतिशील परिवर्तन ही इस बात को सम्भव कर सकता है कि मृत्यु अनिवार्य न हो; पर यह कार्य है कठिन, और इसकी शर्तें बहुत कम लोग पूरी कर सकते हैं। इस प्रकार मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने की विधि व्यक्ति के स्वरूप या उसकी चेतना की अवस्था के अनुसार, भिन्न-भिन्न होगी। इन विधियों को हम चार प्रमुख श्रेणियों में बाँट सकते हैं और प्रत्येक श्रेणी में अनेक भेद-विभेद भी होंगे; सच तो यह है कि प्रत्येक को ही अपनी प्रणाली अपने-आप विकसित करनी होगी।

पहली विधि तर्क-बुद्धि से सम्बन्ध रखती है। यह कहा जा सकता है कि संसार की वर्तमान अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है; प्रत्येक शरीर जो जन्म लेता है, एक-न-एक दिन अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा, और क़रीब-क़रीब सभी की मृत्यु तभी आती है जब उसे आना होता है; उसकी घड़ी को न कोई टाल सकता है और न कोई जल्दी ही ला सकता है। जो उसकी कामना करता है उसे इसे पाने के लिए कभी-कभी बहुत लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और जो उससे डरता है वह, सब सावधानियाँ बरतते हुए भी, अचानक उसका ग्रास बन जा सकता है। मृत्यु की घड़ी अटल रूप में नियत की हुई प्रतीत होती है, इसके अपवाद बहुत थोड़े-से लोग होते हैं जिनमें वे शक्तियाँ होती हैं जो कि साधारण मानवजाति में नहीं पायी जातीं। तर्क-बुद्धि यह सिखाती है कि जिस चीज़ से बचा नहीं जा सकता उससे डरना मूर्खता है। उपाय एक ही है, वह यह कि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाये और दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण मनुष्य वही करे जो अच्छे-से-अच्छा कर सकता है, इसकी चिन्ता न करे कि आगे क्या होगा। यह प्रक्रिया उन बुद्धिवादियों के लिए अत्यन्त फलदायी होती है जो तर्क-बुद्धि के नियमों के अनुसार काम करते हैं; किन्तु जो भावुक लोग

अपनी भावनाओं में निवास करते हैं और उन्हीं के द्वारा सञ्चालित होते हैं, उनमें यह कम फलप्रद सिद्ध होगी। निःसन्देह, इन लोगों को दूसरी विधि अपनानी चाहिये, वह है आन्तरिक खोज की। सब भावों से परे, हमारी सत्ता की नीरव और शान्त गहराइयों में एक प्रकाश सदा प्रकाशमान रहता है, यह है अन्तरात्मा की चेतना का प्रकाश। इस प्रकाश को खोजो, इस पर एकाग्र होओ; यह तुम्हारे अन्दर ही है। दृढ़ संकल्प के द्वारा तुम निश्चय ही यह प्रकाश पाओगे और ज्यों ही तुम उसमें प्रवेश पाओगे, त्यों ही तुम अमरता की अवस्था के प्रति जाग्रत् हो जाओगे। तुम अनुभव करोगे कि तुम सदा ही जीवित रहे हो और सदा ही जीवित रहोगे; उस अवस्था में तुम अपने शरीर से पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाते हो; तुम्हारा सचेतन अस्तित्व उस पर आश्रित नहीं रहता; और यह शरीर तो बहुत-से नाशवान् रूपों में से एक है जिनके द्वारा तुमने अपने-आपको अभिव्यक्त किया है। तब मृत्यु विनाश की अवस्था नहीं रहती, वह केवल संक्रमण की एक अवस्था हो जाती है। तत्काल ही समस्त भय भाग जाता है और तुम मुक्त पुरुष की शान्त निश्चयता के साथ जीवन में आगे बढ़ते हो।

तीसरी विधि उन लोगों के लिए है जो एक दिव्य अस्तित्व में—जिसे वे अपना भगवान् कहते हैं—श्रद्धा रखते हैं और जिसे वे स्वयं को समर्पित कर चुके होते हैं। वे लोग पूर्णतया उसी के होते हैं, उनके जीवन की सभी घटनाएँ भागवत इच्छा की ही अभिव्यक्ति होती हैं, इन घटनाओं को वे केवल एक शान्त समर्पण-भाव से ही नहीं, बल्कि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, कारण, उन्हें यह विश्वास रहता है कि जो कुछ भी उनके साथ घटता है वह सदा ही उनके भले के लिए होता है। उन्हें अपने भगवान् में तथा उसके साथ अपने वैयक्तिक सम्बन्ध में एक प्रकार का गुह्य विश्वास होता है। वे अपनी इच्छा पूर्ण रूप से भगवान् की इच्छा को अर्पित कर देते हैं और वे उसके अटल प्रेम और संरक्षण को अनुभव करते हैं, जीवन और मृत्यु की आकस्मिक घटनाओं से पूरी तरह से अप्रभावित। उनके अन्दर सदा यह अनुभूति रहती है कि वे पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ अपने प्रियतम के चरणों में प्रणत हैं अथवा उनकी बाँहों में आश्रय लिये हुए हैं और वहाँ पूर्ण सुरक्षा अनुभव कर रहे हैं। उनकी चेतना में भय, चिन्ता या दुःख के लिए ज़रा भी स्थान नहीं होता; इस सबका स्थान एक शान्त

और हर्षपूर्ण आनन्द ले लेता है।

किन्तु प्रत्येक को गुह्यवेत्ता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

अन्त में, कुछ लोग जन्मजात योद्धा होते हैं। जीवन जैसा है उसे वे उसी तरह स्वीकार नहीं कर सकते, अपने अन्दर वे एक अमरता के अधिकार का, इस धरती पर ही पूर्ण अमरता के अधिकार का स्पन्दन अनुभव करते हैं। उनके अन्दर एक प्रकार का सहज ज्ञान होता है कि मृत्यु बस, एक बुरी आदत है और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उस पर विजय प्राप्त करने का निश्चय लेकर जन्म लिया है। इस पर विजय का अर्थ होता है भयंकर और सूक्ष्म आक्रमणकारियों की सेना के विरुद्ध घोर युद्ध, ऐसा युद्ध जो सदा ही, लगभग हर पल ही, लड़ना पड़े। इस मोर्चे पर आने का ख़तरा उसी को उठाना चाहिये जिसमें इसके लिए अदम्य उत्साह हो। इस युद्ध के कई मोर्चे हैं, यह कई स्तरों पर लड़ा जाता है जो आपस में एक-दूसरे से मिले-जुले तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।...

मृत्यु के भय पर विजय पाने का एक और भी तरीक़ा है, लेकिन उस तक इतने कम लोगों की पहुँच है कि यहाँ उसका उल्लेख केवल एक सूचना के रूप में किया गया है। वह है जान-बूझकर और सचेतन रूप से मृत्यु के क्षेत्र में जीते-जी प्रवेश करना, और फिर उस लोक से लौट कर भौतिक शरीर में वापस आना, और पूर्ण ज्ञान के साथ भौतिक सत्ता के जीवन-क्रम को फिर से अपना लेना। लेकिन इसके लिए तुम्हें दीक्षा लेनी होगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ९०-९३, ९६

जन्म से मरण तक, जीवन एक ख़तरनाक चीज़ है।

साहसी इसमें से ख़तरों की परवाह किये बिना गुज़र जाते हैं।

सावधान सतर्कता से काम करता है।

भीरु सभी चीज़ों से डरते हैं।

लेकिन अन्त में, हर एक के साथ होता वही है जो परम संकल्प ने निश्चित किया हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १३०

दैनन्दिनी

दिसम्बर

१. शान्ति और अचञ्चलता तुम्हारे अन्दर अधिकाधिक स्थिर हो जायें और तब तुम्हारे काम में हर चीज़ आसान हो जायेगी।

२. हाँ, हर क्षण अपना अच्छे-से-अच्छा करना और परिणाम को भगवान् के निर्णय पर छोड़ देना चाहिये। यही शान्ति, सुख, बल, प्रगति और अन्तिम पूर्णता का मार्ग है।

३. अपनी श्रद्धा पर कभी बादल न छाने दो और अपने प्रति मेरे प्रेम और सतत उपस्थिति और सहायता में विश्वास रखो। अपनी इन कठिनाइयों से काफ़ी ऊपर उठ जाओ जो दीखने में बड़ी लगती हैं, ताकि तुम उन्हें जैसी वे हैं वैसी देख सको, मतलब, बहुत छोटी और तुच्छ।

४. निश्चय ही हमें हमेशा शान्ति और सामञ्जस्य की माँग करनी चाहिये और इसके लिए हर सम्भव कार्य करना चाहिये—लेकिन उसके लिए सबसे अच्छा कार्यक्षेत्र हमारे अपने अन्दर ही होता है।

५. यह धरती अभी तक अज्ञान और मिथ्यात्व से शासित है। लेकिन 'सत्य' की अभिव्यक्ति का समय आ गया है।
हमारे जीवन को 'सत्य के लिए प्रेम' और प्रकाश की प्यास द्वारा शासित होना चाहिये।

६. सामञ्जस्य को अभिव्यक्त करने के लिए सरलता सर्वोत्तम होती है।

७. भागवत कृपा की ओर अपने हृदय को खोलो ताकि वह तुम्हारे अन्दर अपने चमत्कारों को सम्पन्न कर सके।

८. कृपाशक्ति की सतत क्रिया के सम्मुख कोई विरोधी शक्ति टिक नहीं सकती। एक दिन विजय का आना सुनिश्चित है।

९. भागवत उपस्थिति ही वह चीज़ है जो जीवन को मूल्य प्रदान करती है। यह उपस्थिति समस्त शान्ति, समस्त आह्लाद, समस्त सुरक्षा का स्रोत है। इसी उपस्थिति को अपने अन्दर प्राप्त करो और सभी कठिनाइयाँ विलीन हो जायेंगी।

१०. शाश्वत विश्व-जननी शाश्वत काल तक अपने बालक को अपने आलिंगन-पाश में बाँधे रखती हैं।

११. व्यक्तिगत प्रयास अनिवार्य है, उसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। जब व्यक्तिगत प्रयास सच्चा हो तो हमेशा सहायता मिलती है।

१२. जब तुम बोलो तो सावधान होकर हमेशा अपने चारों ओर जीवन्त चरम उपस्थिति तथा सुरक्षा को बनाये रखो और कम-से-कम बोलो।

१३. हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शान्त और सुखी रहेंगे।

१४. आन्तरिक विश्राम को बढ़ाओ। यह ऐसा विश्राम हो जो हमेशा, अधिकाधिक क्रियाशीलता में भी उपस्थित रहे और इतना स्थिर हो कि किसी भी चीज़ में उसे हिलाने की सामर्थ्य न हो—और तब तुम भागवत अभिव्यक्ति के पूर्ण यन्त्र बन जाओगे।

१५. अपने अन्धकारों को सच्ची निष्कपटता के साथ प्रभु को समर्पित कर दो और तुम प्रकाश पाने के योग्य बन जाओगे।

१६. वृद्धि यौवन का लक्षण है और चेतना की वृद्धि की कोई सीमा नहीं।

१७. ... कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके विचार प्रेममय होते हैं, जो प्रेम को विकीरित और प्रसारित करते हैं। ऐसे लोगों की उपस्थिति-मात्र ही सबसे अधिक सक्रिय और वास्तविक उदारता है।

१८. शान्त रहो और विश्वास रखो। बस इसी चीज़ की ज़रूरत है।

१९. हाँ, मेरे बच्चे, चेतना की विशालता और अभीप्सा की एकनिष्ठता से ग्रहणशीलता बढ़ती है।

२०. हाँ, कठिनाई को नयी प्रगति के अवसर में बदलना अच्छा है।

२१. जो सच्चाई के साथ कृपा पर विश्वास करते हैं उनके लिए कृपा का कोई अन्त नहीं होता।

२२. शान्ति और आन्तरिक नीरवता में तुम अधिकाधिक मेरी सतत उपस्थिति के बारे में सचेतन हो सकोगे।

२३. किसी चीज़ के लिए इच्छा न करो, किसी चीज़ के लिए कभी दावा न करो। हर क्षण अपने सामर्थ्य के ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर रहो।

२४. यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो सत्य के लिए अभीप्सा करते हैं उन्हें झूठ बोलने से हमेशा बचना चाहिये।

२५. अपने काम पर एकाग्र होओ—इसी से तुम्हें बल मिलता है। आशीर्वाद।

२६. हमारे हृदय की गहराई में हमेशा महान् आनन्द रहता है और हम उसे हमेशा वहाँ पा सकते हैं।

२७. एक परम चेतना है जो अभिव्यक्ति पर शासन करती है। निश्चय ही उसकी बुद्धि हमारी बुद्धि से बहुत महान् है। इसलिए हमें यह चिन्ता न करनी चाहिये कि क्या होगा।

२८. आदर्श मनोदशा यह है कि केवल भगवान् के होकर रहो, केवल भगवान् के लिए काम करो और सबसे बढ़ कर यह कि भगवान् से बल, शान्ति और सन्तोष की आशा करो। भगवान् सर्वदयामय हैं और हमें वह सब प्रदान करते हैं जो हमें जल्दी-से-जल्दी अपने लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए ज़रूरी हो।

२९. मन, प्राण और शरीर के लिए विनयशील होने का अर्थ है, यह कभी न भूलना कि वे भगवान् के बिना कुछ नहीं जानते, वे कुछ भी नहीं हैं, वे कुछ नहीं कर सकते, भगवान् के बिना वे केवल अज्ञान, अव्यवस्था और असमर्थता हैं। केवल भगवान् ही सत्य, जीवन, शक्ति, प्रेम और सुख-शान्ति हैं।

३०. भगवान् की इच्छा है कि हम हमेशा ऐसी नहरे हों जो हमेशा खुली रहती हैं, हमेशा बहुत चौड़ी हों, ताकि भगवान् की शक्तियाँ साँचे में प्रचुर मात्रा में ढल सकें।

३१. हर क्षण जो अच्छे-से-अच्छा हम कर सकते हैं वही करना और परिणाम को भगवान् के निर्णय पर छोड़ देना; यही शान्ति, सुख, बल, प्रगति और अन्तिम पूर्णता का सबसे अच्छा तरीक़ा है।

श्रीअरविन्द—एक विहंगम दृष्टि

(एक अरसा पहले श्रीअरविन्द के शताब्दी वर्ष—१९७२—में विद्यार्थियों को दिया गया नलिनी दा का एक भाषण।)

आज मैं एक रोचक विषय पर बोलने वाला हूँ, मेरा विषय है 'श्रीअरविन्द—एक विहंगम दृष्टि'। आप जानते ही हैं यह उनकी शताब्दी का वर्ष है। इस अगस्त में वे अपनी भौतिक सत्ता के सौ वर्ष पूरे कर रहे हैं। मैं जान-बूझकर भौतिक सत्ता शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ क्योंकि

वे अपना शरीर तो छोड़ चुके हैं परन्तु उन्होंने धरती के वातावरण को नहीं छोड़ा है। श्रीमाताजी ने हमें विश्वास दिलाया है कि उन्होंने जो काम शुरू किया था, उसे पूरा करने के लिए वे यहाँ रहेंगे। मैं श्रीअरविन्द के जीवन के एक अनूठे पहलू के बारे में बोल रहा हूँ। इसे कइयों ने लक्ष्य किया होगा पर मैं विशेष रूप से उसकी ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ। श्रीअरविन्द का जीवन एक विलक्षण और अद्‌भुत घटना है। यह साधारण मनुष्य के जीवन से भिन्न है। एक साधारण मनुष्य का जीवन लीक-लीक पर चलता है और वह लीक मानों सभी के लिए अच्छी होती है। उसका नमूना हमारे लिए परिचित होता है और हम एक तरह से उसके भाग्य का, उसकी नियति का अन्दाज़ लगा सकते हैं। मनुष्य पढ़ना-लिखना शुरू करता है, किसी विद्यालय में पढ़ता है, किसी महाविद्यालय में प्रवेश पाता है, कॉलेज की पढ़ाई ख़तम करके अपना कोई पेशा चुनता है, इंजीनियर, डॉक्टर या व्यापारी बनना चाहता है, फिर चुने हुए काम पर डटा रहता है, पैसा कमाता है या ग़रीब रह जाता है, अपने जीवन के सामान्य अनुभवों में से गुज़रता है, बच्चे होते हैं, नाती-पोते होते हैं और फिर चल बसता है। साधारण जीवन का नक्शा यही है। श्रीअरविन्द का जीवन "लीकहि लीक" नहीं चला। उनकी लीक, उनकी गति, उनकी पद्धति सब भिन्न हैं। अचरज की बात यह है कि उसमें कई बार लकीर टूटती है, अचानक नये मोड़ लेती है और कभी-कभी पिछले जीवन से एकदम कट जाती है और मज़ेदार बात यह है कि ये परिवर्तन कोई और नहीं, स्वयं वे जान-बूझकर अपनी इच्छा से करते हैं। दो-एक अपवाद हो सकते हैं, जिनका उल्लेख अपने स्थान पर आयेगा। ये मोड़ हमेशा पल्टा खाने वाले नहीं होते परन्तु होते हैं ठीक दिशा में और अन्त में वास्तविक 'ठीक' तक जा पहुँचते हैं।

पहले-पहल—चलिये हम शुरू से ही लें। उनके जीवन का पहला मोड़ पूरी तरह से जीवन को पलटाने वाला था। वे जहाँ थे और जैसे थे उससे एकदम उलटा। उन्हें अपने वातावरण से उखाड़ कर सात समुद्र पार पहुँचा दिया गया, एक भारतीय बंगाली परिवार में से निकाल कर ईसाई अंग्रेज़ परिवार में रोप दिया गया। ऐसी परिस्थिति पैदा की गयी कि वे निज भाषा, भूषा, परिपाटी सबको भूल कर एकदम भिन्न प्रकार के यूरोपीय जीवन में पहुँचा दिये गये। हम कह सकते हैं कि यहाँ बालक अरविन्द का अपना

चुनाव न था, परिवर्तन का नक़्शा उनके पिता ने बनाया था, कौन जाने यह निश्चय शायद उनकी अपनी अन्तरात्मा का ही हो। उसी की नियति ने यह क़दम उठवाया हो। उनके पिता भलाई करना चाहते थे, वे अपने बच्चों को उस समय की परिभाषा के अनुसार सिर्फ़ अच्छा ही नहीं, महान् भी बनाना चाहते थे। उन दिनों भारत में अंग्रेज़ स्वामी थे और भारतीय दास। उन दिनों बुद्धिमान्, प्रतिभावान् व्यक्तियों का आदर्श था सरकारी अफ़सर बनना, डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, और बहुत हुए तो कमिश्नर तक बन जाना क्योंकि यही पद हिन्दुस्तानियों के लिए ऊँचे-से-ऊँचा था। इसके लिए, अपने नाम के साथ आई.सी.एस के तीन जगमगाते अक्षर लगाने के लिए एक परीक्षा देनी होती थी। यहीं श्रीअरविन्द ने स्पष्ट रूप से अपना पहला चुनाव किया। उन्होंने विकास पाते हुए भूत को लात मार कर अपने जीवन के लिए सर्वथा भिन्न धारा चुनी। एक इतने प्रतिभाशाली युवक ने किसी और ही आकर्षण के वश होकर अपने सारे किये-कराये को परे धकेल दिया। घरवाले और मित्र सभी स्तब्ध रह गये, पर वे निर्णय पर डटे रहे।

आप जानते हैं कि इसके बाद वे बड़ौदा आये, महाराजा के सचिव और कॉलेज के प्राध्यापक बन कर रहे। ऊपरी दृष्टि से यह बहुत ही सीधा-सादा और मामूली, धुँधला और गुमनाम-सा जीवन था। लेकिन उन्हें अपने आन्तरिक विकास के लिए गुमनामी ही पसन्द थी। वे इसी तरह लिपिक का-सा जीवन बिताते रहे और इस तरह लगभग बारह वर्ष निकाल दिये। उनके जीवन में बारह वर्ष की इकाई मालूम होती है। हाँ, तो बारह वर्ष के बाद उन्होंने फिर से पैंतरा बदला। वे अगर चाहते तो सामान्य गति से चलते हुए कॉलेज के प्रिंसिपल हो जाते और शायद बड़ौदा के दीवान भी बन जाते। उन दिनों भारतीय लोगों के लिए यह बहुत बड़ा पद था। लेकिन उन्होंने दूसरा रमेशदत्त बनना पसन्द न किया। जवानी के बारह वर्षों की मेहनत से लगायी गयी फसल साफ़ कर दी और एक राष्ट्रीय नेता के रूप में बंगाल जा पहुँचे। वे उस नये आन्दोलन के नेता बने जो अंग्रेज़ों की दासता को छोड़ कर देश के स्वाधीन होने के स्वप्न ले रहा था। वे उस ख़तरनाक जीवन में कूद पड़े जिसमें देश-सेवा का पुरस्कार था अनिश्चितता, घर-बार और आजीविका को तिलाञ्जलि। किसी भी क्षण पकड़े जाने की, जेल में बन्द होने की, फाँसी या गोली का शिकार होने की सम्भावना रहती

थी। यह एक बहुत बड़ा निर्णय था जो उनके जीवन को पूरी तरह बदल रहा था। अपनी राजनीतिक गतिविधि के स्वाभाविक परिणामस्वरूप वे पकड़े भी गये और साल-भर जेल में भी रहे। और उसके बाद एक नया मोड़ आया जिसने फिर से भूतकाल की जड़ें काट कर रख दीं और एक नये जीवन का आरम्भ हुआ। जीवन का मार्ग अन्दर की ओर, गहराई से और अधिक गहराई की ओर जाने लगा।

कारावास में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी थी जिसके बारे में कम ही लोग जानते हैं। जेल में हम सब एक साथ थे। हमारा ख़याल था कि हम ही पहले राजनीतिक बन्दी हैं जिन पर षड्यन्त्र या राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप लगाया गया है। हमने मान लिया कि हमारी जीवन-यात्रा का यहीं अन्त होने वाला है, नाम के लिए मुक़द्दमा चलेगा और एक दिन हम सबको गोली मार दी जायेगी। या अगर हम भाग्यवान् निकले तो हमें देशनिकाला देकर कालेपानी (अण्डमान) भेज दिया जायेगा। हमारे जेल के कुछ वयस्क नेताओं ने जेल फाँद कर या किसी और तरह से छुटकारा पाने की ठानी। बाहर के लोगों की सहायता से योजना तैयार हो गयी। अब हमसे बड़ों ने सोचा चलो, श्रीअरविन्द से भी सलाह कर ली जाये क्योंकि उनकी अनुमति के बिना कुछ न किया जा सकता था, क्योंकि सचमुच वे ही हमारे नेता और पथ-प्रदर्शक थे। जब सारी योजना श्रीअरविन्द के सामने रखी गयी तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मैं इस तरह का कुछ काम न करूँगा। मैं अदालत के सामने कटघरे में खड़ा रहूँगा। स्वभावतः योजना रद्द हो गयी और यह हमारे लिए सौभाग्य की बात थी। यह ठीक है कि उन्हें मुक़द्दमे का परिणाम मालूम था। वे जानते थे कि उन्हें कुछ नहीं होगा और वे छोड़ दिये जायेंगे। लेकिन उस समय हम सब धर्मसंकट में थे। शायद यह कहा जा सकता है कि श्रीअरविन्द का यह निश्चय उनके जीवन का एक और महत्त्वपूर्ण योग था। अगर वे उस योजना को स्वीकार कर लेते तो उनके जीवन की नियति को कुछ और ही रूप लेना पड़ता और हम सब ज़बह कर दिये जाते। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्होंने अपने आध्यात्मिक काम के लिए जीवन की रक्षा की।

जेल से बाहर आकर उन्होंने फिर राष्ट्रीय काम शुरू किया। अंग्रेज़ सचमुच व्याकुल हो उठे। उन्हें मालूम था कि यही व्यक्ति सारी गड़बड़ की

जड़ है। उनकी समझ में न आता था कि इसके साथ क्या करें, इसे कैसे क़ाबू में लाएँ। उन्होंने सोचा, फिर से श्रीअरविन्द को पकड़ लिया जाये और इस बार कहीं दूर देश बर्मा या किसी और जगह भेज दिया जाये। श्रीअरविन्द यथापूर्व अपना काम करते रहे। दो-दो अख़बार निकालते थे; लोगों से मिलते और सलाह देते थे और भाषण देने के लिए इधर-उधर जाते थे। लेकिन अब नये मोड़ का समय आ गया था। एक दिन या ठीक कहें तो एक रात अचानक उन्होंने कहा कि मैं किसी अजाने स्थान पर जा रहा हूँ। और सचमुच, हर चीज़ को जैसा का तैसा छोड़ कर वे ग़ायब हो गये। बाद में पता चला कि वे पॉण्डिचेरी गये हैं। इस बार भूतकाल को पूरी तरह मिटा दिया गया। उन्होंने एक बिलकुल ही नये जीवन का, आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से नये जीवन का आरम्भ किया। यहीं से अतिमानस की ओर सीधी चढ़ान शुरू हुई। यहाँ भी उन्हें फिर एक बार निर्णायक परिवर्तन करने की ज़रूरत पड़ी। फिर से दक्षिण पथ पर, और अधिक सत्य पथ की ओर मुड़ना पड़ा।

वे अंग्रेज़ों की आँख की किरकिरी थे। उस समय के फ्रेंच भारत में भी उनका रहना अंग्रेज़ों के लिए असह्य था। उन्हें अपनी सुरक्षा ख़तरे में दीखती थी। उन्हें विश्वास था कि यह आदमी कुछ भी कर सकता है। उन दिनों फ्रांस और इंग्लैण्ड में दोस्ती थी। उनमें एक मैत्रीपूर्ण समझौता हुआ और श्रीअरविन्द के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि फ्रांस उनका स्वागत करने के लिए तैयार है। वह उन्हें अलजीरिया में शान्ति और सुरक्षा के साथ रखने को तैयार है। घर वग़ैरह की व्यवस्था भी कर दी जायेगी। फिर भी श्रीअरविन्द का उत्तर स्पष्ट और निश्चित नकार में था। श्रीअरविन्द के कुछ मित्र और साथी भी फ्रेंच राज्य में आश्रय लिये हुए थे। उन्हें यह प्रस्ताव पसन्द था क्योंकि इससे वे अंग्रेज़ों के सतत अत्याचार से बच सकते थे। श्रीअरविन्द के निश्चय से उन्हें निराशा हुई लेकिन उन्हें मौन स्वीकृति देनी पड़ी। आज आधी शताब्दी गुज़र जाने के बाद हम उस महत्त्वपूर्ण निर्णय के महत्त्व को समझ सकते हैं।

एक और संकट आया। यह महान् संकट था, सारी मानवता का भविष्य, स्वयं श्रीअरविन्द और उनके कार्य की नियति इस पर निर्भर थी। संसार दूसरे महायुद्ध के नज़दीक पहुँच रहा था। सभी आसुरिक शक्तियों ने मिल

कर धरती पर धावा बोल दिया था। असुर मानवजाति और मानव-संस्कृति को नष्ट करने पर तुले थे। श्रीअरविन्द जिस सत्य को लाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे उसे रोकना उनका लक्ष्य था। श्रीअरविन्द ने दिव्य संकल्प और दिव्य शक्ति से असुरों का मुक़ाबला किया। उन्होंने मानवजाति पर आते हुए इस आघात को अपने ऊपर ले लिया—ठीक वैसे ही जैसे युगों पहले भगवान् शंकर ने देवों की रक्षा के लिए हलाहल का पान करके उसे अपने कण्ठ में स्थान दिया था। उस सूक्ष्म आक्रमण ने उनके शरीर को घायल कर दिया परन्तु जगत् का अस्तित्व बच गया। उसके बाद उन्होंने खुले आम उन मित्र-राष्ट्रों की सहायता की जो आसुरी यन्त्रों के विरुद्ध लड़ रहे थे।

इसके बाद हम उनके आख़िरी कार्य पर आते हैं जिसमें उन्होंने एक चक्र पूरा किया। उन्होंने जान-बूझकर भौतिक मंच से हट जाने का निश्चय किया और नेपथ्य में रह कर ज़्यादा अच्छी तरह सूत्र-सञ्चालन करने का फ़ैसला किया।

मैंने श्रीअरविन्द के जीवन के ऐसे मौलिक परिवर्तनों की बात की है जिन्होंने सारी गतिविधि बदल दी और हर बार जीवन को एक नया रूप दिया। इस में हर मोड़ का अर्थ है, भूत के साथ सम्बन्ध-विच्छेद और भविष्य की ओर गति। इस प्रकार के आमूल और अप्रत्याशित परिवर्तनों के लिए हमारे यहाँ एक शब्द है, मध्यस्थता या हस्तक्षेप। जैसा कि माताजी ने हमें कई बार बताया है इस हस्तक्षेप या मध्यस्थता का अर्थ है, वर्तमान जगत् में किसी और जगत् से ज़्यादा बड़ी और ऊँची शक्ति का प्रवेश।

जीवन की व्यवस्थित और परिचित रूढ़ि में जीवन कुछ विधि-विधानों के अनुसार चलता रहता है जिसे हम वर्तमान का विधान कह सकते हैं। अचानक किसी और प्रकार की सत्ता, चेतना और शक्ति का प्रवेश होता है, एक उच्चतर विधान आता है जो पुराने जीवन को एकदम बदल डालता है। इसी तरह व्यक्ति एक स्तर से दूसरे स्तर तक पहुँचता है और उसके लिए ज़्यादा विस्तृत क्षेत्र खुलते जाते हैं अन्यथा वह जहाँ-का-तहाँ पड़ा रहता और एक अपरिवर्तनशील मिट्टी के ढेले या अधिक-से-अधिक अपनी पुरानी पुनरावृत्ति करते रहने वाले पशु तक ही सीमित रहता।

नियति जितनी ऊँची होगी मध्यस्थता भी उतने ही ऊँचे स्तर से आयेगी, ज़्यादा मौलिक होगी—ज़्यादा विनाशात्मक और सर्जनशील होगी—पुरातन

का विनाश और नवीन का सर्जन करेगी।

मैंने कहा है कि श्रीअरविन्द का शरीर-त्याग इस मध्यस्थता का एक चमत्कार है, भविष्य में जो काम होने वाला है उसकी दृष्टि से विवेकपूर्ण और निर्णायक भागवत हस्तक्षेप है। इसी तरह उनका जन्म भी भागवत शक्ति का विवेचित हस्तक्षेप था। जगत् को उसकी ज़रूरत थी। समय की माँग थी और भागवत हस्तक्षेप ने श्रीअरविन्द के मानव शरीर के रूप में उसका उत्तर दिया। आज हम उस शरीर को प्रणाम करते हैं और अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

शताब्दी उस भागवत जन्म और भागवत मृत्यु का अभिवादन करती है जो उच्चतर भागवत जीवन का नव विहान लाये हैं।

—नलिनी कान्त गुप्त

गत-दिवस

चला गया है आज हमारा एक दिवस यह और,
समय विगत होता रहता है इसी तरह सब ठौर।
अभी-अभी तो दिन निकला था होता है यह ज्ञात,
देर न कुछ भी लगी और यह अभी आ गयी रात।
दिन ही क्यों, वर्षों पहले का सुखमय शैशव काल,
मन में आता है मानों वह अभी गया है हाल।
सुख की खिली चाँदनी हो या होती हो दुःख-वृष्टि,
किन्तु ठहर कर समय न इन पर कभी डालता दृष्टि।
यह रजनी भी चली जायेगी, होगा इसका अन्त,
दिन आयेगा चला जायेगा, फिर वह भी हा हन्त!
चल यों निशि-दिन रूप पगों से निशि-दिन बिना प्रयास,
चले जा रहे हम सवेग हैं महामृत्यु के पास।
करना हो जो करें शीघ्र हम तज आलस्य अभंग;
क्या जाने कब छूट जाये इस समय-सखा का संग!

—सियारामशरण गुप्त

आवश्यकता है बस सरलता की

सरल, सुन्दर, सारगर्भित कहानी प्रस्तुत है—

एक थे पादरी—महान् धर्मप्रचारक। अपने ज्ञान से औरों को लाभ पहुँचाने के लिए वे हमेशा उत्सुक रहा करते थे और इसीलिए हमेशा देश-देशान्तर की यात्रा करके धर्म का प्रचार-प्रसार किया करते थे। एक बार इसी तरह जहाज़ से दूर देश जा रहे थे। रास्ते में अचानक उन्होंने एक छोटा-सा द्वीप देखा और यह सोच कर जहाज़ उस दिशा में मुड़वा दिया कि उन द्वीपवासियों के साथ भी थोड़ी-सी भगवत्-चर्चा करके उनको भी लाभ पहुँचा आऊँ। शायद वह दुनिया का सबसे छोटा द्वीप था—आबादी के नाम पर बसते थे केवल तीन वृद्ध जिनकी लम्बी-लम्बी सफ़ेद दाढ़ियाँ थीं और थे उन्नत ललाट। इतना शान्त, स्वच्छ और रमणीक स्थान था वह कि जहाज़ के प्रत्येक व्यक्ति ने द्वीप पर पैर रखते ही अपने हृदय में कुछ परिवर्तन-सा अनुभव किया। उधर अतिथियों को देख वृद्ध ख़ुशी से झूम उठे। उनके स्वागत के लिए तुरन्त ले आये फल और झरने का मीठा पानी। ताज़े फल और अमृत-जैसा पानी पीकर सब तृप्त हो उठे। कुछ देर बाद पादरी ने उनसे पूछा—"मान्यवर, कौन हैं आप तीन, कब से यहाँ रह रहे हैं, कैसे आपका जीवन-निर्वाह होता है, क्या करते हैं आप लोग यहाँ?"

पादरी की बातें सुन कर तीनों आश्चर्य से एक दूसरे को देखने लगे। अन्त में एक ने कहा—"महाशय, हम नहीं जानते कि हम कब से यहाँ रह रहे हैं क्योंकि बचपन से यही हमारा घर है। क्षमा कीजियेगा, जीवन-निर्वाह का क्या अर्थ है हम नहीं समझते, हाँ, यहाँ के कन्दमूल खाते हैं, झरनों का मीठा पानी पीते हैं, कभी कोई भूला-भटका नाविक आ जाये तो भरसक उसका आतिथ्य भी करते हैं। जीवन-सरिता शान्त गति से बहती है हमारी, बस और तो कुछ नहीं करते, और क्या करना चाहिये यह भी तो नहीं जानते हम।"

वृद्ध की बातें सुन कर पादरी कुछ रूखे स्वर में बोल उठे—"क्या कह रहे हैं आप? यूँ ही बस निरुद्देश्य-सा जीवन बिता रहे हैं आप लोग। क्या उस महान् प्रभु को कभी नहीं याद करते जो विश्व को गति देता है, वास्तव में जिसके बिना प्राणिमात्र का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।"

पादरी की बातें सुन कर चौंक उठे वृद्ध। एक ने कहा—"महाशय, उस परम की तो हम रात-दिन स्तुति करते हैं, लेकिन क्या यह भी कोई काम है, यह तो एक स्वाभाविक क्रिया है।"

"अच्छा तो कैसे पूजा करते हैं आप लोग" पादरी ने कुछ व्यंग्य के साथ पूछा।

"महाशय, पूजा की हमारी कोई विशेष विधि नहीं है, बस शान्ति से बैठ जाते हैं, फिर भगवान् से हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं—प्रभु हम तीन हैं और सचमुच तुम भी त्रिरूप हो, हमारी रक्षा करना, इस धरा की रक्षा करना। बस।" वृद्ध बोले।

"हुँ, कैसी बच्चों की-सी प्रार्थना है आपकी" पादरी मुस्कुरा उठे—"मैं हूँ पादरी, परोपकार ही मेरा लक्ष्य है, इसी कारण देश-देशान्तर में घूमता-फिरता हूँ। आज मैं आप लोगों को ऐसी प्रार्थना करना सिखाऊँगा जिससे आपका भी जीवन सार्थक हो उठे।" और पादरी महोदय ने 'बाइबल' की एक सुन्दर प्रार्थना उन्हें सिखा दी। तब तक वहीं रहे जब तक कि उन तीनों ने उस प्रार्थना को हृदयंगम नहीं कर लिया।

चौथे दिन वृद्धों से विदा लेकर अपने दल-बल के साथ पादरी औरों को लाभ पहुँचाने वहाँ से निकल पड़े।

खुले समुद्र में पहुँच गया जहाज़। अगले दिन दोपहर के समय अचानक एक नाविक की दृष्टि दूर दिखायी दे रहे एक काले धब्बे पर पड़ी।

सभी भौचक्के रह गये, उसी दिशा से तो उनका जहाज़ आया और रास्ते में कोई द्वीप तो उन्हें दिखायी नहीं दिया। यह क्या! वह धब्बा तो उनके ही क़रीब आ रहा था।

"अरे ये तो द्वीप के तीनों वृद्ध सज्जन हैं" नाविक चिल्लाया, "और देखिये, कैसे पानी पर सरपट दौड़ते चले आ रहे हैं।"

सभी आँखें फाड़े यह दृश्य देखने लगे। वृद्ध हाथ हिला-हिला कर जहाज़ को रुकने का इशारा कर रहे थे।

जहाज़ रुका, वृद्ध उसी तरह दौड़ते हुए उसके पास आ पहुँचे। हाथ जोड़ कर बोले—"महाशय, क्षमा कीजिये, हम हैं अनपढ़-गँवार, आप इतनी सुन्दर प्रार्थना हमें सिखा कर गये, लेकिन हम बीच के कुछ शब्द भूल गये, कृपया एक बार फिर सिखा दीजिये, हम आपके बड़े आभारी होंगे।"

पादरी उनकी बातें सुन कर भी कुछ न समझ पाये, बस इतना ही बोल पाये—"आप लोगों को पानी पर चलना किसने सिखाया?"

एक ने कहा—"किसी ने नहीं, चूँकि हम इतनी सुन्दर प्रार्थना भूल गये इसलिए हमने उस प्रभु से प्रार्थना की, "भगवन्, हमें प्रार्थना सीखने पादरी के पास जाना है, नाव हमारे पास है नहीं, दौड़ हम लेंगे इसलिए कृपा करो कि हम पानी पर दौड़ कर उनके जहाज़ तक पहुँच जायें। बस इसी तरह आ गये हम यहाँ।"

पादरी महोदय उन वृद्धों के सामने नतमस्तक हो हाथ जोड़कर धीरे-धीरे बोले—"महात्मन्, आपकी असीम कृपा से आँख तो मेरी आज खुल गयी। आज मैं समझ पाया कि मेरे सिखाये शब्द बिलकुल निरर्थक हैं। कृपया आप लोग वही प्रार्थना कीजिये जिसे वर्षों से करते चले आ रहे हैं ताकि उससे पृथ्वी भी लाभान्वित हो। वह महान् प्रभु तो हृदय की वाणी सुनता है, उसे शब्दाडम्बर की आवश्यकता नहीं।

वे तीनों वृद्ध जैसे आये थे उसी सरलता के साथ वापस भी चले गये।

'अग्निशिखा', मार्च २००९ से —वन्दना

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पॉण्डिचेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पॉण्डिचेरी ६०५००१, भारत

सम्पादक : वन्दना

स्वामी : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी-६०५००१

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

चाहे कुछ क्यों न हो, हमें शान्त रहना चाहिये
और भगवान् की कृपा पर भरोसा रखना चाहिये।

'**श्रीमातृवाणी**', खण्ड १४, पृ. १०२

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

Renaissance

AN ONLINE JOURNAL OF SRI AUROBINDO SOCIETY

renaissance.aurosociety.org

PRESENTED BY BHĀRATSHAKTI

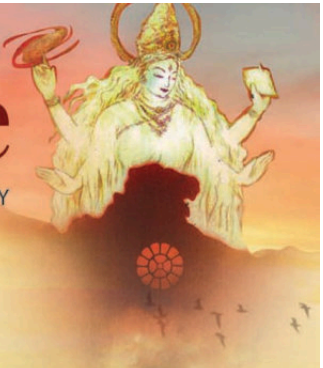

India must be reborn, because her rebirth is demanded by the future of the world.

Featuring curated pearls of wisdom from the oceanic writings of **Sri Aurobindo and the Mother**, as well as fresh perspectives and insights on India and her creative genius manifesting in various domains – spiritual, artistic, literary, philosophic, aesthetic.

Sri Aurobindo Society

BHĀRATSHAKTI

INDIA – FROM PAST DAWNS TO FUTURE NOONS

10 ISSUES PER YEAR

Released on the 21st of every month (special issue on August 15)

SUBSCRIBE FOR FREE

Date of Publication: 1st December 2024
Rs. 30 (Monthly)
अग्निशिखा एवम् पुरोधा, वर्ष २, अंक १७, PONHIN/2023/88119
PY/082/2024-2026
प्रकाशक स्थलः सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पांडिचेरी ६०५००१

A Happy Announcement! Our Upcoming Film

SRI AUROBINDO

A CALL TO NEW INDIA

A New Dawn Series

A SHORT ANIMATION FILM BASED ON THE 5 DREAMS OF SRI AUROBINDO
BY SRI AUROBINDO SOCIETY

A STORYBOARD SKETCH FROM FILM-IN-THE-MAKING

August 15th, 1947 is the birthday of free India.
It marks for her the end of an old era, the beginning of a new age. But we can also make it by our life and acts as a free nation an important date in a new age opening for the whole world, for the political, social, cultural and spiritual future of humanity.

~ Sri Aurobindo
HIS MESSAGE FOR INDIA IN THE FORM OF 5 DREAMS

Participate in creating an inspirational film!
DONATE at www.anewdawn.in